महोपाध्याय श्रीमद् विनयविजयजी विरचित

शांत-सुधारस

(हिन्दी-विवेचन)

भाग : प्रथम

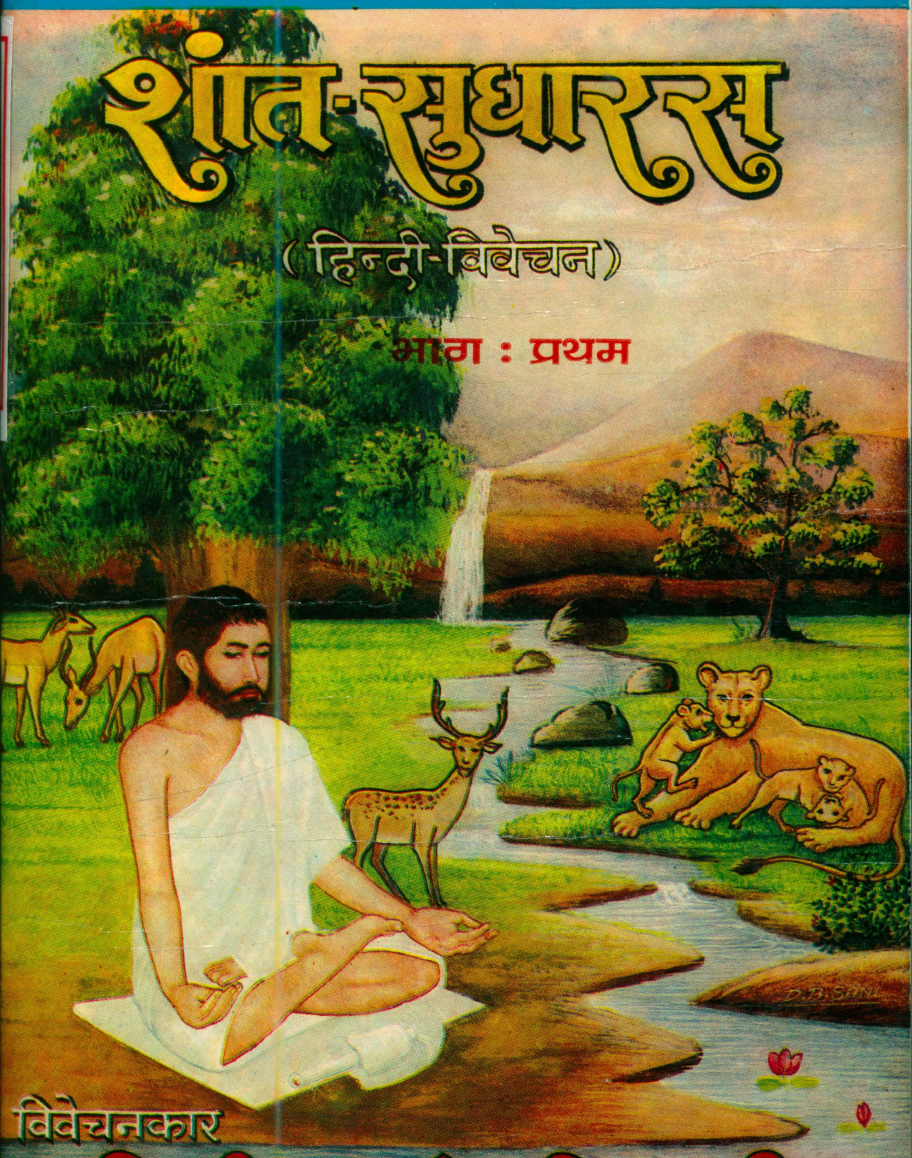

विवेचनकार

मुनि श्री रत्नसेन विजयजी म.

समर्पण

"शांत सुधारस" ग्रंथ के अन्तर्गत वर्णित सोलह भावनाओं को जीवन में आत्मसात् कर अनेक पुण्यवंत आत्माओं को इस भावना-पीयूष का पान कराने वाले स्वनामधन्य अध्यात्मयोगी निःस्पृहशिरोमणि वात्सल्यवारिधि करुणावत्सल पूज्यपाद गुरुदेव पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजय जी गणिवर्यश्री की पुनीत आत्मा को, उन्हीं की कृपा से विवेचित "शांत सुधारस" हिन्दी विवेचन ग्रंथ रत्न समर्पित करते हुए मुझे अत्यंत ही हर्ष हो रहा है।

— मुनि रत्नसेन विजय

महोपाध्याय श्री विनय विजयजी विरचित

शान्त सुधारस

(हिन्दी-विवेचन)

भाग : प्रथम

卐

विवेचनकार

जिनशासन के महान् ज्योतिर्धर सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के तेजस्वी शिष्यरत्न
अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी
गणिवर्यश्री के चरम शिष्यरत्न

मुनिश्री रत्नसेन विजयजी

卐

प्रकाशक

स्वाध्याय संघ

C/o Indian Drawing Equipment Industries
Shed No. 2, Sidco Industrial Estate
Ambattur—Madras-600 098

पुस्तक का नाम	:	शान्त सुधारस-हिन्दी विवेचन
आशीर्वाददाता	:	सौजन्यमूर्ति पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतन सूरीश्वरजी म. सा.
विवेचनकार	:	प. पू. मुनिप्रवर श्री रत्नसेन विजयजी म.
प्रस्तावना	:	विद्वद्वर्य पू. मु. श्री महाबोधि विजयजी
आवृत्ति	:	प्रथम, सितम्बर १९८९
मूल्य	:	२०.०० रुपये
प्रकाशन-सहयोगी	:	रणजीतमल फूटरमलजी संघवी C/o संघवी ज्वेलर्स १४६, मुंबादेवी रोड बम्बई-४००००२
मुद्रक	:	ताज प्रिण्टर्स, जोधपुर

हमारे लोकप्रिय हिन्दी प्रकाशन

लेखक : अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य

१.	महामंत्र की अनुप्रेक्षा	२०.००
२.	नमस्कार-मीमांसा	८.००
३.	चिन्तन की चिनगारी	४.५०
४.	चिन्तन के फूल	५.००
५.	परमात्मदर्शन	५.००
६.	चिन्तन की चांदनी	६.००
७.	चिन्तन का अमृत	७.००
८.	आपके सवाल हमारे जवाब	७.००
९.	समत्व योग की साधना	१२.००
१०.	परमेष्ठि-नमस्कार	प्रेस में
११.	जैनमार्ग परिचय (द्वि.आ.)	प्रकाश्य
१२.	प्रतिमा-पूजन	प्रेस में

लेखक : पूज्य मुनिराज श्री रत्नसेन विजयजी म.

१.	वात्सल्य के महासागर	४.००
२.	सामायिक सूत्र विवेचना	५.००
३.	चैत्यवंदन सूत्र विवेचना	अप्राप्य
४.	आलोचना सूत्र विवेचना	६.००
५.	वंदित्तु सूत्र विवेचना	५.००
६.	आनन्दघन चौबीसी विवेचना	२०.००
७.	मानवता के दीप जलाएँ	९.००
८.	कर्मन् की गत न्यारी (द्वितीय आवृत्ति)	(प्रेस में)
९.	मानवता तब महक उठेगी	८.००
१०.	जिंदगी जिंदादिली का नाम है	८.००
११.	चेतन ! मोह नींद अब त्यागो	९.००
१२.	मृत्यु की मंगल यात्रा	९.००
१३.	युवानो ! जागो	६.००
१४.	शांतसुधारस (हिन्दी विवेचन) प्रथम भाग	२०.००
१५.	Light of Humanity	(In Press)

卐 पुस्तक-प्राप्ति-स्थान 卐

1. Shantilal D. Jain Phone : (1) 654465
C/o Indian Drawing Equipment (2) 653608
Industries; Shed No. 2,
Sidco Industrial Estate
Ambattur—Madras–600 098

२. दुर्लभ डी. जैन Phone : 227851
C/o Indian Drawing Equipment Industries
214, Shri Venkatesware Market
Avenue Road, Banglore–560 002

3. A.V. Shah & Co. (C.A.) Phone : 344798
408, Arihant, 4th Floor, Ahmedabad street
Iron Market—Bombay–400 009

४. कान्तिलाल मुणत
106, रामगढ़, आयुर्वेदिक हॉस्पिटल के पास,
रतलाम (M.P.) 457 001

5. Motilal Banarsidas
40 U.A. Bungalow Road, Jawaharnagar,
New Delhi–11

६. कनकराज पालरेचा Phone : 129
C/o गंगाराम मुलतानमल
At रानी, Dist. पाली (राज.) Pin–306 115

७. नवरतनमल डोशी
जूनी धानमंडी, महावीर स्वामी मन्दिर के पास, जोधपुर (राज.)

८. छगनराजजी चोपड़ा C/o सोनल फर्नीचर Ph. : P.P. 561067
Shop No. 1, सत्य विजय कोऑपरेटिव हाउसिंग सोसायटी
सर्वोदय नगर गेट–भांडुप—बम्बई–400 078

९. प्रकाशचंद फतेहचंद जैन C/o Valuable Fabrics
116, Darshan Market 1st Floor Phone . 40539
Ring Road—Surat–395 003

१०. कान्तिलाल मानमल राठौड़ 554 B कन्हैया भवन B/6 2nd Floor
चीरा बाजार—बम्बई–400 002

प्रकाशक की कलम से.....

महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी द्वारा विरचित और परम पूज्य अध्यात्मयोगी निःस्पृहशिरोमणि पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री के चरम शिष्यरत्न मुनिप्रवर श्री रत्नसेन विजयजी द्वारा विवेचित **'शान्त सुधारस-हिन्दी विवेचन'** प्रथम भाग का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त ही हर्ष हो रहा है।

'शान्त-सुधारस' एक अनमोल ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में महोपाध्याय श्री विनय विजयजी म. ने गेयात्मक काव्य के रूप में अनित्य आदि बारह और मैत्री आदि चार भावनाओं का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है।

शान्त रस को रसाधिराज भी कहा गया है। अत्यन्त मधुर कण्ठ से इन गेय काव्यों को गाया जाय तो सुषुप्त चेतना में स्पन्दन हुए बिना नहीं रहता है। अनेक साधु-साध्वीजी इस ग्रन्थरत्न को कण्ठस्थ कर इसका स्वाध्याय भी करते हैं।

विद्वद्वर्य मुनिश्री रत्नसेन विजयजी म. ने अत्यन्त ही परिश्रम-पूर्वक बड़ी ही सरल व सुबोध भाषा-शैली में इस अद्‌भुत ग्रन्थ का हिन्दी विवेचन तैयार किया है, इस हेतु हम आपके अत्यन्त ही आभारी हैं। ग्रन्थ-प्रकाशन में सहयोगी महानुभावों का भी हम आभार मानते हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे पूर्व प्रकाशनों की भाँति यह प्रकाशन भी आपको रुचिकर लगेगा।

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा सभी आत्माएँ मुक्ति-प्रेमी बनकर आत्मकल्याण के पथ पर आगे बढ़ें; यही शुभेच्छा है। □

भावना भवभञ्जिका

लेखक : **वैराग्यदेशनादक्ष पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय हेमचन्द्र सूरीश्वरजी म. सा. के प्रशिष्यरत्न साहित्यप्रेमी मुनि श्री महाबोधि विजयजी म.**

शान्त सुधारस !

अद्‌भुत है यह ग्रन्थ ! !

रोमाञ्चक है इसमें भावनाओं का निरूपण ।

जैन साहित्य में संस्कृत भाषा में इस प्रकार के गेय काव्य विरल ही देखने को मिलते हैं । अजैनों में जयदेव का 'गीतगोविन्द' काव्य प्रसिद्ध है । वैसा ही मधुर और लालित्य रस भरपूर काव्य है महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी विरचित **शान्त सुधारस** ।

सम्पूर्ण काव्य में शान्तरस का महासागर उछलता हुआ नजर आता है ।

पूर्व के कवियों ने भी शान्तरस को रसाधिराज की उपमा दी है ।

अध्यात्मरसिक लेखक की लेखनी में और वक्ता के वक्तव्य में ऐसे सभी रसों का वर्णन होते हुए भी अन्त में तो शान्तरस का ही वर्णन आता है अर्थात् उसी शान्तरस की धारा तक पहुँचाने के लिए ही अन्य रसों का यदा-कदा वर्णन किया जाता है ।

ग्रन्थ की पीठिका बनाते हुए महोपाध्यायजी ने बहुत ही सुन्दर बात कही है—"मनुष्य को सुखी बनना है किन्तु शान्ति के बिना सुख-कहाँ से ? केवल किताबी ज्ञान से बन बैठे विद्वानों के लिए

शान्तरस की प्राप्ति/शान्ति का अनुभव अत्यन्त ही कठिन है और भावनाओं से भावित आत्माओं को शान्त रस का अनुभव सहज होता है।"

संक्षेप में कह सकते हैं कि भावनाओं के वपन से उगे हुए अमृतफल में से टपकते हुए शान्तरस को जो ग्रहण करते हैं, उन्हीं को सुख का अनुभव होता है।

अपने यहाँ **तत्त्वार्थसूत्र/प्रशमरति/योगशास्त्र** आदि अनेक ग्रन्थों में भावनाओं का वर्णन आता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में तो केवल भावनाओं का ही वर्णन है।

मन को अशुभ विचार/अशुभ चिन्तन में से रोककर शुभ विचार/शुभ चिन्तन की ओर मोड़ने की ताकत इन भावनाओं में है।

सुबह से शाम तक मानव को अनेक अनुभव होते हैं और देखने/नहीं देखने योग्य कई दृश्य मानव को देखने को मिलते हैं। यदि उन प्रसंगों को सही दृष्टिकोण से देखा जाय तो मानव का मन उन शुभ भावनाओं से रंजित बन सकता है, उसके लिए चाहिये—निर्मल मन और स्वच्छ दृष्टि।

रोग से घिरी हुई काया को देखकर शरीर की नश्वरता का विचार कर सकते हैं···तो किसी सुखी में से दुःखी बने व्यक्ति को देखकर उस धन/सम्पत्ति की क्षणिकता का भी विचार कर सकते हैं···और देखना आता हो तो बिखरते हुए बादल और ढलते हुए सूरज को देखकर संसार की अनित्यता का भी विचार कर सकते हैं।

संसार में सभी आत्माएँ एक या दूसरे भय से त्रस्त/संत्रस्त होती ही हैं और शारीरिक व मानसिक वेदनाओं से ग्रस्त होती हैं। भयभीत

बनी आत्मा भयमुक्त बनने के लिए अनेक की शरणप्राप्ति हेतु दौड़-धूप करती है। किन्तु अफसोस ! कोई भी आत्मा उसे सम्पूर्ण भयमुक्त नहीं कर सकती···क्योंकि शरणदाता स्वयं ही अशरण होता है। अशरणों से उभरती हुई इस दुनिया में संसार के विवध भयों से भयभीत बनी आत्मा को एकमात्र जिनवचन ही शरण दे सकते हैं, उनकी शरण में गई हुई आत्मा संसार के समस्त भयों से मुक्त बनती है।

इस प्रकार संसार के विचित्र सम्बन्धों से संसार भावना, 'कर्म के उदय को आत्मा अकेली ही सहन करती हैं, उसमें दूसरा कोई भागीदार नहीं बनता है'। इस प्रकार **एकत्व भावना**, 'मैं अकेला हूँ, मैं अपने स्वजन/परिवार से भी भिन्न हूँ' इस प्रकार अन्यत्व भावना, पवित्र को अपवित्र, शुद्ध को अशुद्ध और निर्मल को मलिन बनाने वाले शरीर को देखकर अशुचि भावना आदि से आत्मा को भावित कर सकते हैं।

किस कारण से आत्मा कर्म का बन्ध करती है ? किन हेतुओं से उन कर्मों का आगमन रुक सकता है ? और किन कारणों से आत्मा पर लगे कर्म से अलग हो सकते हैं ? इत्यादि चिंतनपूर्वक क्रमशः आस्रव भावना, संवर भावना और निर्जरा भावना से अपनी आत्मा को भावित कर सकते हैं।

कर्म की निर्जरा जिससे होती है, उस धर्म के प्रभाव का विचार करना धर्मस्वरूप भावना है। धर्म के अभाव से आत्मा जहाँ परिभ्रमण करती है, उस चौदह राजलोक लंबे लोक की विचारणा करना, लोक-स्वरूप भावना है और जिसके बिना अनन्त आत्माएँ संसार में परिभ्रमण करती हैं उस सम्यग्दर्शन की दुर्लभता का विचार करना, बोधिदुर्लभ भावना है, ये हुई बारह भावनाएँ।

इसी प्रकार शेष चार भावनाओं के अन्तर्गत सभी जीवों को

संगृहीत किया गया है। ये चार भावनाएँ हैं—मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य।

इन सोलह भावनाओं के चिन्तन से आत्मा के राग-द्वेष मन्द होते हैं, आत्मा शान्तरस में निमग्न बनती है, विषय और कषाय की मन्दता होती है, आत्मा वैराग्यरस में मग्न बनती है।

इन सोलह भावनाओं के चिन्तन को जितना विस्तृत करना चाहें, उतना कर सकते हैं।

ग्रन्थकार महोपाध्यायश्री ने यह सम्पूर्ण ग्रन्थ काव्यात्मक रूप में बनाया है। इस काव्य में उन्होंने अपने चिन्तन के महासागर को उंडेल दिया है। एकान्त की पलों में जब इस काव्यग्रन्थ का मस्ती से तन्मयता-पूर्वक स्वाध्याय किया जाय तो कुछ अलौकिक ही आनन्द आता है। इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से अन्तःकरण में चिन्तन का झरना बहने लगता है।

संस्कृत भाषा में विरचित इस काव्य-ग्रन्थ के हार्द को संस्कृत-भाषा के ज्ञाता ही समझ सकते हैं।

संस्कृत के इस महान् काव्य का रसास्वादन देश-विदेश की हिन्दी-भाषी प्रजा भी कर सके, इसके लिए मेरे धर्मस्नेही मित्र विद्वान् मुनि श्री रत्नसेनविजयजी महाराज ने अथक प्रयत्न/पुरुषार्थ कर यह सुन्दर विवेचन तैयार किया है। लेखन/संपादन/संशोधन में प्रारंभ से रूचि रखने वाले पूज्य मुनिराजश्री ने अनेक अन्य पुस्तकों का सुन्दर आलेखन भी किया है। पूज्य मुनिश्री की मूल भाषा-शैली हिन्दी होने से वे हिन्दी भाषा के अच्छे प्रवचनकार भी हैं। 'मानवता तब महक उठेगी' 'मानवता के दीप जलाएँ', 'युवानो ! जागो' इत्यादि पुस्तकों

के माध्यम से युवा-आलम को भी जागृत किया है। अपने पूज्य गुरुदेव अध्यात्मयोगी पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री के गुर्जर साहित्य का भी हिन्दी अनुवाद/संपादन कर हिन्दीभाषी प्रजा पर महान् उपकार कर रहे हैं।

'विवेचना' के क्षेत्र में भी आपका जैन समाज को अमूल्य योगदान रहा है। नवकार से वंदित्तु तक के प्रतिक्रमण सूत्रों की विवेचनाएँ कर आपने हिन्दीभाषी प्रजा पर बहुत उपकार किया है। आज से लगभग ३०० वर्ष पूर्व हुए योगिराज आनन्दघनजी महाराज द्वारा रचित 'आनन्दघन चौबीसी' पर भी लेखक मुनिश्री ने हिन्दी भाषा में सुन्दर विवेचना प्रस्तुत की है।

प्रस्तुत 'शान्त सुधारस' ग्रन्थ का, विवेचनकार मुनिश्री ने बहुत ही सुन्दर व आकर्षक शैली में विवेचन किया है। विवेचन की भाषा अत्यन्त ही सरल व सरस है। बीच-बीच में विवेचनकार मुनिश्री ने प्राचीन/अर्वाचीन, वास्तविक/काल्पनिक दृष्टान्तों के माध्यम से इस विवेचन को बहुत ही हृदयंगम बनाने का प्रयास किया है।

उत्साह और स्फूर्ति ही लेखक मुनिश्री का जीवन-मंत्र है। वे सतत ज्ञान-ध्यान की आराधना/साधना में मग्न रहते हैं। किसी भी समय उनकी मुलाकात हो, वे किसी-न-किसी शुभ-शुभतर प्रवृत्ति में व्यस्त ही दिखाई देते हैं। ऐसे गुण-सम्पन्न महात्मा के द्वारा जैनसंघ को उपयोगी ग्रन्थों की सुन्दर विवेचनाएँ प्राप्त होती रहे और अध्ययन/अध्यापन कर पुण्यवन्त आत्माएँ आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर बनें, यही एक शुभाभिलाषा है।

□□□

विवेचनकार की कलम से....

ज्येष्ठ मास और उसमें भी मध्याह्न काल ,
सूर्य अपनी पूर्ण शक्ति के साथ भयंकर ताप बरसा रहा है ;
नीचे भूमि तपी हुई है और
ऊपर सूर्य आग उगल रहा है ,
ऐसे समय में कोई पथिक
तप्त रेती के मार्ग से
प्रसार हो रहा है ;
पथिक का देह पसीने से
लथपथ हो गया है ,
ऐसे समय में
अचानक पथिक की दृष्टि
विशाल वट-वृक्ष की ओर जाती है ।
पथिक तीव्र गति से
वट-वृक्ष की ओर अपने कदम बढ़ाता है और
विशाल वृक्ष की शीतल छाया में
पहुँच जाता है ।
शीतल पवन की लहरियों से
उसका पसीना दूर हो जाता है,
बाह्य गर्मी कम हो जाती है और उसे
परम आनन्द/आह्लाद का अनुभव होता है ।
उसका संतप्त चित्त
प्रसन्नता से भर आता है ।
बस,
इसी प्रकार

राग और द्वेष
अज्ञान और मोह
क्रोध, मान, माया और लोभ के ताप से संतप्त बनी आत्मा,
जब भावनाओं के महासागर में डुबकी लगाती है,
तब
उसके मोह का ताप/संताप दूर हो जाता है,
कषायों की आग शान्त हो जाती है और आत्मा
परम आनन्द की अनुभूति करती है।
देखा है कभी भावनाओं के उस महासागर को ?
हिन्द महासागर या अरब की खाड़ी को तो
शायद देखा ही होगा ?
परन्तु
भावनाओं का महासागर तो उससे भी अधिक
विराट् और गहन है।
यदि आप उससे अपरिचित/अनजान हों तो
आइए,
महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी म. हमें
उसका परिचय कराते हैं,
मात्र परिचय ही नहीं,
उन भावनाओं के साथ
तदाकार/तन्मय बनने का
उपाय भी बतलाते हैं।

• • •

भावनाओं की शक्ति अजोड़ है। जरा, भूतकाल के इतिहास को उठाकर देखें—

- देह की अनित्यता का विचार करते-करते भरत महाराजा इतने भाव-विभोर हो गए कि आदर्श भवन (आरिसा भवन) में ही उन्हें केवलज्ञान हो गया।

- अस्ताचल की ओर द्रुत गति से आगे बढ़ रहे सूर्य को देखकर पवनपुत्र हनुमान संसार से विरक्त हो गए।

- 'जो जल रहा है, वह मेरा नहीं और जो मेरा है, वह कभी जलने वाला नहीं।' इस प्रकार अन्यत्व भावना में लयलीन बने गजसुकुमाल मुनि साधना के शिखर पर पहुँच गए और सदा के लिए बन्धन-मुक्त हो गए।

- 'मैं अकेला हूँ, अकेला आया हूँ और अकेला ही जाने वाला हूँ'... इस एकत्व भावना में मग्न बने अनाथी मुनि ने युवावस्था में ही संसार का त्याग कर दिया और संसार के बंधन में से मुक्त बन गए।

- देह की अशुचि/दुर्गन्धता का दर्शन कराकर राजकुमारी मल्लिकुमारी ने स्वयं पर मुग्ध छह राजकुमारों को वैराग्य-भावना से रंजित कर दिया।

- लग्न-मण्डप में भावना के शिखर पर पहुँचे हुए गुणसागर राजकुमार को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

—ऐसे एक नहीं, अनेक दृष्टान्त इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर अंकित हैं।

- भावनाओं के महासागर में डुबकी लगाने के पूर्व ग्रन्थकार महर्षि का कुछ अल्प परिचय प्राप्त कर लें।

—महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी के जीवन-संदर्भ की स्पष्ट

जानकारी कहीं भी उपलब्ध नहीं है। फिर भी उनके द्वारा विरचित ग्रन्थों में प्रशस्ति के तौर पर लिखे गये श्लोकों के आधार पर उनका कुछ परिचय मिलता है।

—उनके जन्म-दिन और जन्म-स्थल का कोई पता नहीं है। उनकी माता का नाम राजश्री और पिता का नाम तेजपाल था। उनके गृहस्थ-जीवन के नाम का और दीक्षा-तिथि का कोई उल्लेख नहीं है। संयम-स्वीकार के बाद उनका नाम विनय विजयजी रखा गया और वे उपाध्यायश्री कीर्तिविजयजी के शिष्य बने।

—अत्यन्त सूक्ष्म प्रज्ञा और निर्मल बोध के कारण विनय विजयजी म. ने अनेक ग्रन्थों की रचना की।

'लोकप्रकाश' ग्रन्थ उनके गहन तत्त्वावबोध की साक्षी रूप है।

—संस्कृत व्याकरण पर उनका अच्छा अधिकार था। उनके द्वारा विरचित 'हैमलघुप्रक्रिया' में उनके व्याकरण के सूक्ष्मावबोध का पता चलता है।

उनके द्वारा विरचित अन्य रचनाएँ निम्नांकित हैं—

(१) 'कल्पसूत्र' पर सुबोधिका टीका—चौदह पूर्वधर महर्षि भद्रबाहुस्वामीजी द्वारा पूर्व में से उद्धृत 'कल्पसूत्र' पर आपने 'सुबोधिका' नामक संस्कृत टीका की रचना की है। यह टीका ६५८० श्लोक प्रमाण है। इन्होंने इस टीका की समाप्ति विक्रम संवत् १६९६ की जेठसुद २ के दिन की थी। इसकी भाषा अत्यन्त ही सरल व भाववाही है।

वर्तमान काल में पर्युषण पर्व में अधिकांश मुनि भगवन्त, कल्पसूत्र

की इसी सुबोधिका का आधार लेकर प्रवचन करते हैं। यह टीका अत्यन्त ही सरल व सुबोध होने से बहुत लोकप्रिय बनी है।

(२) **लोकप्रकाश**—इस ग्रन्थ में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

- द्रव्यलोकप्रकाश में ग्यारह सर्ग हैं। इसमें वीतराग प्ररूपित षड्द्रव्य का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

- क्षेत्रलोकप्रकाश में १६ सर्ग हैं। इसमें चौदह राजलोक के स्वरूप का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

- काललोकप्रकाश में समय से लेकर घड़ी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, कालचक्र, पल्योपम, सागरोपम आदि का सविस्तृत वर्णन किया गया है।

- भावलोकप्रकाश में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक, सांनिपातिक आदि छह भावों का सुन्दर शैली में वर्णन किया गया है।

सचमुच, जैनदर्शन के द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग को बहुत ही सुन्दर ढंग से समझाया गया है।

इस विशालकाय ग्रन्थ में आगमादि अन्य ७०० ग्रन्थों के १०२५ साक्षी पाठ दिए गए हैं। इससे उपाध्यायजी म. के आगमज्ञान की गहराई का स्पष्ट ख्याल आ जाता है।

(३) **हैमलघुप्रक्रिया**—वि.सं. १७१० में हैमलघुप्रक्रिया ग्रन्थ की रचना हुई है। कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी विरचित 'सिद्धहेमशब्दानुशासनम्' ग्रन्थ के सूत्रानुसार उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना

की है। संस्कृत-भाषा के बोध के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त ही उपयोगी है। यह टीका ३४००० श्लोक-प्रमाण है।

(४) **नयकर्णिका**—दीवबन्दर में २३ गाथाओं के रूप में संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इसमें नयों के स्वरूप को अच्छे ढंग से समझाया गया है।

(५) **षट्त्रिंशत् जल्प संग्रह**—उत्तराध्ययन ग्रन्थ के टीकाकार श्री भावविजयजी म. ने सं. १६६९ में षट्त्रिंशत् नामक ग्रन्थ संस्कृत पद्य में बनाया था, जिसमें तत्कालीन परिस्थिति का वर्णन किया गया था। इस ग्रन्थ को संक्षिप्त संस्कृत गद्य में रचा गया है।

(६) **अर्हन्नमस्कार-स्तोत्र**—यह संस्कृत भाषा का स्तोत्र है और अभी तक अप्रकाशित है।

(७) **जिनसहस्रनाम स्तोत्र**—वि. सं. १७३१ में गंधार में १४९ उपजाति छंदों में इस ग्रन्थ की रचना की गई है। इस स्तोत्र में एक हजार बार जिनेश्वर-भगवन्त को नमस्कार किया गया है।

(८) **इन्दुदूत काव्य**—उपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी म. ने जोधपुर से अपने आचार्य विजयप्रभसूरिजी के नाम जो पत्र लिखा था, वही पत्र इन्दुदूत काव्य है। भादों सुद १५ के दिन चन्द्रमा को देखकर उसे दूत बनाकर अपने आचार्यश्री को विज्ञप्ति भेजी है। सम्पूर्ण लेख संस्कृत भाषा में मन्दाक्रांता छंद में है। इसमें कुल १३१ श्लोक हैं।

गुजराती भाषा की कृतियाँ :

(१) **सूर्यपुर चैत्यपरिपाटी**—वि. सं. १६८९ में सूरत शहर के मन्दिरों की जो चैत्यपरिपाटी की थी, उन सब मन्दिरों का इसमें सुन्दर वर्णन है।

(२) **उपमिति भवप्रपंच स्तवन**—श्री सिद्धर्षिगणि के द्वारा विरचित 'उपमिति भवप्रपंचा' ग्रन्थ के आधार पर सूरत चातुर्मास में संवत् १७१६ में इसकी रचना की गई थी। इस स्तवन में १३८ गाथाएँ हैं। 'उपमिति भवप्रपंचा' की तरह ही इस स्तवन में बहुत ही सुन्दर शैली में संसार के स्वरूप का वास्तविक चित्रण किया गया है।

(३) **पट्टावली सज्झाय**—इस सज्झाय में सुधर्मा स्वामी से लेकर अपने गुरुदेव कीर्तिविजय उपाध्याय तक की पट्टावली का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है। इसमें कुल ७२ गाथाएँ हैं।

(४) **पाँच समवाय कारण स्तवन**—इस स्तवन में काल, स्वभाव, भवितव्यता, कर्म और पुरुषार्थ रूप पाँच समवायी कारणों का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

(५) **चौबीसी स्तवन**—वर्तमान चौबीसी के समस्त तीर्थंकरों के अत्यन्त ही भक्ति-भावगर्भित स्तवनों की रचना की है।

(६) **बीशी स्तवन**—सीमन्धर स्वामी आदि बीस विहरमान तीर्थंकर भगवन्तों के भावगर्भित बीस स्तवन।

(७) **पुण्य प्रकाशनुं स्तवन**—वि. सं. १७२९ में रांदेर में चातुर्मास स्थिरता दरम्यान 'आराधना सूत्र' पयन्ना के आधार पर इस स्तवन की रचना की गई है। इसमें ७० गाथाएँ हैं। समाधिमरण के लिए अत्यन्त उपयोगी १० बातों का इसमें सुन्दर संकलन किया गया है।

(८) **भगवती सूत्र की सज्झाय**—संवत् १७३१ में रांदेर चातुर्मास में भगवती सूत्र सज्झाय की रचना की थी। इसमें भगवती सूत्र की महिमा तथा उसके पठन-पाठन स्वाध्याय का लाभ बतलाया गया है।

(९) **आयंबिल की सज्झाय**—११ गाथाओं की इस सज्झाय में आयंबिल तप की महिमा बतलाई गई है।

(१०) **षडावश्यक (प्रतिक्रमण) स्तवन**—इस स्तवन में सामायिक आदि षड्आवश्यकों के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

(११) **उपधान स्तवन**—इस स्तवन में उपधान तप के स्वरूप का सुन्दर वर्णन है।

(१२) **श्री श्रीपाल राजा का रास**—विनय विजयजी म. की गुजराती कृतियों में इस रास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संवत् १७३८ में रांदेर नगर में चातुर्मास स्थिरता दरम्यान इस रास की रचना की गई है। यह रास चार खंडों में विभाजित है। इस रास की लगभग ७५० गाथाओं की रचना विनय विजयजी म. ने तथा ५०२ गाथाओं की रचना महोपाध्याय यशोविजयजी म. ने की है।

इस रास के तीसरे खंड की ५ वीं ढाल की रचना में २० गाथाएँ बनाने के बाद विनय विजयजी म. का कालधर्म हुआ था। तीसरे खण्ड की अवशिष्ट ११८ गाथा तथा चौथे खण्ड की रचना उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म. ने की है।

इस काव्यकृति में साहित्य के ९ रसों का यथास्थान सुन्दर वर्णन देखने को मिलता है।

महोपाध्यायश्री के उपर्युक्त ग्रन्थों का अवलोकन करने से उनकी बुद्धि, प्रतिभा और विराट् व्यक्तित्व का हमें परिचय होता है। महोपाध्यायश्री का देहावसान वि. सं. १७३८ में रांदेर शहर में चातुर्मास दरम्यान हुआ था।

महोपाध्याय श्री विनय विजयजी म. की प्रस्तुत कृति **शान्त सुधारस** अत्यन्त ही भाववाही कृति है। इसमें अनित्य आदि भावनाओं का बहुत ही सुन्दर व मर्मस्पर्शी वर्णन है। अत्यन्त लय के साथ यदि गाया जाय तो परम आनन्द की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती।

प्रस्तुत ग्रन्थ-विवेचन :

इस **'शान्त सुधारस'** ग्रन्थ का **मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया** ने गुजराती भाषा में बहुत ही सुन्दर विवेचन तैयार किया है, जिसे पढ़कर अनेक पुण्यात्माओं को सम्यग्धर्म के प्रति रुचि पैदा हुई है। इस गुर्जर विवेचन को पढ़कर पाली निवासी श्रीमान् वरदीचंदजी ने मुझे कहा— 'इस ग्रन्थ का सुन्दर हिन्दी विवेचन तैयार हो तो यह विवेचन हिन्दी-भाषी वर्ग के लिए अत्यन्त उपकारक सिद्ध हो सकता है।' उनके इस सुझाव को ध्यान में रखकर परम पूज्य जिनशासन के अजोड़ प्रभावक सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्र सूरीश्वरजी म. सा. की असीम कृपादृष्टि, परम पूज्य अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि परमोपकारी गुरुदेव पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री की सतत कृपावृष्टि, प. पू. सौजन्यमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतन सूरीश्वरजी म. सा. के शुभाशीर्वाद से मैंने इस ग्रन्थ के विवेचन का प्रयास प्रारम्भ किया। उपर्युक्त पूज्यों की असीम कृपा तथा प. पू. सहृदय पंन्यासप्रवर श्री वज्रसेन विजयजी म. सा. के मार्गदर्शन और प. पू. परम तपस्वी सेवाभावी मुनि श्री जिनसेन विजयजी म. सा. की सहयोगवृत्ति से इस ग्रन्थ विवेचन का अल्प प्रयास करने में सक्षम बन सका हूँ।

प. पू. विद्वद्वर्य आचार्यप्रवर श्री यशोविजय सूरिजी म. ने भी इस

विवेचन को आद्यन्त देखकर परिमार्जित किया है, उनका भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ ।

विद्वद्वर्य आत्मीय मुनि श्री महाबोधि विजयजी ने भी सुन्दर प्रस्तावना लिखकर इस विवेचन की शोभा बढ़ाई है ।

अन्त में, मतिमन्दतादि दोषों के कारण यदि कहीं जिनाज्ञा विरुद्ध आलेखन हुआ हो तो उसके लिए त्रिविधमिच्छामिदुक्कडम् ।

जैन उपाश्रय,
गुजराती कटला
पाली (राज.)
अ.सु. १४, २०४५
चातुर्मास प्रारम्भ दिन
दिनांक १८-७-८९

—अध्यात्मयोगी पूज्य पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री
का चरम शिष्याणु
मुनि रत्नसेन विजय

मंगलाचरण

नीरन्ध्रे भवकानने परिगलत्पञ्चास्रवाम्भोधरे ,
नानाकर्मलतावितानगहने, मोहान्धकारोद्धुरे ।
भ्रान्तानामिह देहिनां हितकृते कारुण्यपुण्यात्मभि-
स्तीर्थेशैः प्रथितास्सुधारसकिरो रम्या गिरः पान्तु वः ।। १ ।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—यह संसार रूपी जंगल अत्यन्त ही सघन है, जो चारों ओर से बरसते हुए पाँच प्रकार के आस्रव रूप बादलों से व्याप्त है, जो अनेक प्रकार की कर्म-लताओं से अत्यन्त ही गहन है और मोह रूपी अन्धकार से व्याप्त है, इस जंगल में भूले पड़े प्राणियों के हित के लिए करुणासागर तीर्थंकर भगवन्तों ने अमृत रस से भरपूर और अत्यन्त आनन्ददायी वाणी का जो विस्तार किया है, वह वाणी आपका संरक्षण करे ।। १ ।।

विवेचन

महोपाध्याय श्री विनयविजयजी महाराज **'शान्त सुधारस'** ग्रन्थ के प्रारम्भ में सर्वप्रथम मंगलाचरण करते हैं। इस आद्य **'मंगलाचरण'** गाथा में तीर्थंकरों की वाणी की स्तुति कर 'वह वाणी आपका संरक्षण करे', इस प्रकार आशीर्वाद भी

दिया गया है। तीर्थंकरों के द्वारा निर्दिष्ट यह अमृतवाणी किस प्रकार उपकारी है, यह समझाने के लिए पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने संसार की भीषणता का निर्देश किया है। संसार की भीषणता-भयंकरता को समझाने के लिए उपाध्यायजी म. ने संसार को एक जंगल की उपमा दी है।

कुछ समय के लिए आप अपनी आँखें बन्द कर दो और मन रूपी घोड़े पर सवार होकर भीषण वन में पहुँच जाओ। अब आप मन की आँखों से देखो। ओह !....कितना भीषण और भयंकर यह जंगल !!

चारों ओर लम्बी-लम्बी झाड़ियाँ हैं। बहुत ही विशाल क्षेत्र में यह जंगल छाया हुआ है। विराट्काय वृक्षों से यह जंगल अत्यन्त सघन बना हुआ है।

इसके साथ ही अमावस्या की घनघोर रात्रि है। चारों ओर घना अन्धकार छाया हुआ है। कहीं पर प्रकाश की एक भी किरण नजर नहीं आ रही है।

जोर-शोर की गर्जनाओं के साथ बादल बरस रहे हैं। वर्षा की तीव्र रिम-झिम के कारण चारों ओर गहरा कीचड़ हो गया है। वर्षा के जलप्रवाह के कारण चारों ओर घास उगी हुई है। इस भीषण जंगल में हिंसक और क्रूर जंगली प्राणियों का भी आवास है। दूर-सुदूर से सिंह की गर्जनाएँ सुनाई दे रही हैं, जिनके श्रवण मात्र से ही कमजोर पशु थरथर काँप रहे हैं।

चारों ओर अत्यन्त भंयकर और डरावना वातावरण है।

जंगल की झाड़ियाँ इतनी सघन हैं कि उनमें फँस जाने के बाद निकलने के लिए मार्ग मिलना ही अत्यन्त कठिन है।

कल्पना करो, ऐसे भीषण जंगल में आप फँस जायें तो आपकी मनःस्थिति कैसी होगी? क्या क्षण भर के लिए भी आपका मन शान्त रह सकता है? नहीं। कदापि नहीं। ऐसी परिस्थिति में मन सतत कम्पायमान ही रहेगा। सुरक्षा और संरक्षण के लिए आप प्रयत्न किये बिना नहीं रहेंगे। लेकिन अफसोस! आपका एक भी प्रयत्न आपको बचा नहीं पा रहा है। जी-जान से किया गया आपका प्रयत्न निष्फल जा रहा है। आपके दुःख की सीमा नहीं रहेगी। दुःख से आपका हृदय भर आएगा। आपके इस दुःख के संवेदन की कल्पना मात्र भी अन्य को भयभीत बना देगी।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज वन की इस भीषणता के दृश्य को अपनी आँख के सामने तादृश्य कराकर इस संसार की भयानकता को समझाना चाहते हैं।

ओह! यह संसार तो श्मशान घाट से भी अत्यन्त भयंकर है। फिर भी इस भीषण वन की उपमा के द्वारा इस संसार के वास्तविक स्वरूप का चित्रण प्रस्तुत कर रहे हैं।

यह भीषण संसार रूपी वन! जिस प्रकार सघन वन में से बाहर निकलने का मार्ग नहीं मिल पाता है और व्यक्ति इधर से उधर भटकता रहता है। बस, इसी प्रकार इस संसार में भी आत्मा इधर से उधर जन्म-मरण के चक्र में भटक रही है। वह सुख की लालसावश बन्धन से मुक्ति का प्रयत्न करती है, लेकिन वह प्रयत्न ही उसके लिए बन्धनस्वरूप बन जाता है।

पूज्य उमास्वातिजी ने कहा है कि "मोह से अन्धी बनी आत्मा सुख को पाना चाहती है और दुःख का त्याग करना चाहती है, परन्तु मोहान्धता के कारण वह ज्यों-ज्यों प्रयत्न करती है, त्यों-त्यों दुःख के गहन सागर में ही डूबती जाती है।"[1] इस भीषण संसार में सुख की चाह से आत्मा इधर से उधर भटकती है। 'मधु-बिन्दु' तुल्य कल्पित सुखों में वास्तविक सुख मान बैठती है और चारों ओर से दुःख हो दुःख पाती है।

जिस प्रकार जंगल में अत्यन्त कीचड़ के कारण आगे बढ़ना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार इस संसार में भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूपी पाँच आस्रव सतत बरस रहे हैं। आस्रवद्वारों से कर्म का आत्म-भूमि में सतत आगमन होने से संसार रूपी जंगल सदैव हरा-भरा रहता है। जब तक वर्षा चालू रहती है, तब तक नई घास उत्पन्न होती रहती है। कर्म के सतत आगमन से आत्मा का भव-भ्रमण रूप संसार सतत हरा-भरा रहता है।

नाना प्रकार की कर्म-लताओं से यह संसार-वन सघन बना हुआ है।

यह संसार-वन अत्यन्त भीषण और गाढ़ तो है ही, इसके साथ मोह के गाढ़ अन्धकार से भी व्याप्त है। एक तो वन की भीषणता और दूसरी ओर अन्धकार!! अब कैसे निकला जाय?

इस ससार में भी मोह का गाढ़ अन्धकार है, अतः जीवात्मा को सही दिशा प्राप्त ही नहीं हो पाती है।

---

[1] प्रशमरति-श्लोक सं. ४०।

संसार में जीवात्मा की इस भयंकर दशा को देखकर, तीर्थंकर परमात्मा को दया आती है। तीर्थंकर परमात्मा तो करुणा के सागर हैं। जीवात्मा की इस दुःखभरी स्थिति को देख वे अत्यन्त ही करुणार्द्र बनते हैं और इस संसार में भटकती हुई आत्माओं के कल्याण के लिए शांत रस से भरपूर धर्मदेशना देते हैं। जिस धर्मदेशना के श्रवण से भव्यात्माओं को सन्मार्ग की प्राप्ति होती है और अन्त में वे परम-पद की भोक्ता बन जाती हैं।

'तीर्थंकरों की वह कल्याणकारी वाणी तुम्हारा रक्षण करे।' इस प्रकार विनयविजयजी म. आशीर्वादात्मक मंगलाचरण पूर्ण करते हैं। □

पीठिका

स्फुरति चेतसि भावनया विना,
न विदुषामपि शान्तसुधारसः।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना,
जगति मोहविषादविषाकुले ॥ २ ॥

(द्रुतविलम्बितम्)

अर्थ—भावना के बिना विद्वानों के हृदय में भी शान्त-सुधारस (अमृत का रस) उत्पन्न नहीं होता है, जबकि मोह और विषाद रूपी विष से भरे हुए इस संसार में उसके बिना क्षणमात्र भी सुख नहीं है ॥ २ ॥

विवेचन

ग्रन्थ की यथार्थता

पूज्य वाचकवर्य श्रीमद् विनयविजयजी म. ने प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'शान्त सुधारस' रखा है। 'शान्त सुधारस' इस ग्रन्थ का यथार्थ नाम है। दुनिया में कई बार स्वार्थसिद्धि के लिए अयथार्थ औपचारिक (आरोपित) स्तुति भी की जाती है। किसी कंगाल का नाम भी 'अमीरचंद' रख दिया जाता है। परन्तु ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ के नाम का यथार्थ चयन किया है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत उन्होंने बारह भावनाओं का वर्णन किया है। इन भावनाओं के महत्त्व को बतलाते हुए वे फरमाते हैं कि इन भावनाओं के भावन (चिन्तन) बिना विद्वानों के मन में भी शान्त रस का प्रवाह प्रगट नहीं होता है अर्थात् मन्दजनों की बात तो दूर रही, किन्तु विद्वान् के हृदय में भी जो शान्त रस उत्पन्न होता है, वह इन भावनाओं को ही आभारी है। अतः विद्वज्जनों के लिए भी यदि ये भावनाएँ अत्यन्त अनिवार्य हैं, तो मन्दजनों के लिए तो इनकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध हो जाती है। उनको तो बारम्बार अवश्य इन भावनाओं का भावन करना ही चाहिये। इस प्रकार प्रस्तुत गाथा में ग्रन्थ का 'विषय निर्देश' भी हो जाता है। □

यदि भवभ्रमखेदपराङ्मुखम्,
यदि च चित्तमनन्तसुखोन्मुखम्।
शृणुत तत्सुधियः शुभ-भावना-
मृतरसं मम शान्तसुधारसम्॥ ३॥

(द्रुतविलम्बितम्)

अर्थ—हे बुद्धिमानो ! संसार-परिभ्रमण से यदि आपका मन पराङ्मुख बना हो और अनन्त सुख को पाने के लिए आपका मन उन्मुख बना हो, तो शुभ-भावना रूपी अमृत रस से भरपूर मेरे इस 'शान्त सुधारस' का श्रवण करो ।। ३ ।।

विवेचन

'शान्त सुधारस' की उपयोगिता

गर्मी में लम्बी पदयात्रा से अत्यन्त थका हुआ पथिक आपने देखा ही होगा अथवा लम्बी पदयात्रा का आपने अनुभव भी किया होगा। लम्बी पदयात्रा से व्यक्ति थककर चूर हो जाता है, सिर पर से सतत पसीना छूटने लगता है और सारे कपड़े पसीने से लथपथ हो जाते हैं। श्रम से अत्यन्त थका हुआ व्यक्ति वृक्ष की शीतल छाया में विश्राम करना चाहता है और उस थकावट में यदि उसे ठंडा पानी मिल जाय तो उसकी काफी थकावट दूर हो जाती है।

बस ! इसी प्रकार यदि आपको इस अनादि संसार के परिभ्रमण से थकावट लग रही हो और उस थकावट से आप मुक्ति चाहते हों तो पू. विनयविजयजी म. कहते हैं कि मेरे इस 'शान्त सुधारस' का आप अवश्य श्रवण करो।

ठंडे पानी का वास्तविक मूल्यांकन वही कर सकता है जो गर्मी से अत्यन्त संतप्त हो। इसी प्रकार इस 'शान्त सुधारस' ग्रन्थ का भी वास्तविक मूल्यांकन वही कर सकता है, जो इस संसार से उद्विग्न बना है। अनादि से अपनी आत्मा इस संसार में भटक रही है, परन्तु इस परिभ्रमण का जिसे ज्ञान ही नहीं है, वह आत्मा इस 'शान्त सुधारस' का मूल्यांकन नहीं कर सकती है। □

सुमनसो मनसि श्रुतपावना,
निदधतां द्वयधिका दशभावनाः।
यदिह रोहति मोहतिरोहिताऽद्-
भुतगतिर्विदिता समतालता ।। ४ ।।
(द्रुतविलम्बितम्)

अर्थ—हे सुन्दर मन वाले ! कान को पवित्र करने वाली बारह भावनाओं को अपने मन में धारण करो, जिसके परिणामस्वरूप मोह से तिरोहित बनी, जिसकी अद्‌भुत शक्ति है, वह सुप्रसिद्ध समता रूपी लता अंकुरित होगी ।। ४ ।।

विवेचन

भव्यात्माओं को प्रेरणा

पूज्य उपाध्यायजी महाराज भव्यात्माओं को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे सुन्दर मनवालो ! आप इन बारह भावनाओं को हृदय में अवश्य धारण करो।

ग्रन्थकार की वाणी में कितनी मधुरता व सौष्ठव है, इसका पता हमें प्रस्तुत श्लोक से लग जाता है। धर्माभिमुख बनी आत्माओं के सम्बोधन के लिए कितने सुन्दर शब्दों का वे प्रयोग करते हैं।

ग्रन्थकार फरमाते हैं—कि इन भावनाओं का श्रवण कान को पवित्र करने वाला है। ये भावनाएँ आत्म-हितकर होने से ज्यों-ज्यों इन भावनाओं का श्रवण करते जाओगे, त्यों-त्यों आपके हृदय में शान्त रस का प्रवाह बढ़ता हो जाएगा। इन बारह भावनाओं के श्रवण से वैराग्य की पुष्टि होगी और अनादि की कुवासनाओं का जोर समाप्त होने लगेगा।

ये बारह भावनाएँ श्रुतज्ञान से पवित्र बनी हुई हैं। इनके श्रवण से आत्मा के विवेक चक्षु खुल जाते हैं और आत्मा को सन्मार्ग की दिशा का ज्ञान होता है।

इन भावनाओं के श्रवण से हृदय में समता रूपी कल्पलता भी उगती है। समता अर्थात् सम भावना। सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, स्वर्ण-तृण में सम भावना की प्राप्ति समता से ही होती है और उस समता की प्राप्ति इन भावनाओं के स्वाध्याय से होती है। □

आर्त्तरौद्रपरिणामपावक-
प्लुष्टभावुकविवेकसौष्ठवे ।
मानसे विषयलोलुपात्मनां,
क्व प्ररोहतितमां शमाङ्कुरः ।। ५ ।।
(रथोद्धता)

अर्थ—आर्त्त और रौद्रध्यान (परिणाम) रूपी अग्नि से भावना रूपी विवेक चातुर्य जिसका जल कर नष्ट हो चुका है और जो विषयों में लुब्ध है, ऐसी आत्मा के मन में समता रूपी अंकुर कैसे प्रगट हो सकते हैं? ।। ५ ।।

विवेचन

समता के लिए समस्या

समता की प्राप्ति आसान बात नहीं है। उसकी प्राप्ति में अनेक विघ्नों की परम्परा का सामना करना पड़ता है। जिसका मन आर्त्त और रौद्र ध्यान से सतत संतप्त बना हुआ हो और

उस मनस्ताप से जिसका विवेक नष्ट हो चुका हो, उसके मन-मन्दिर में समता-लता का विकास अशक्य ही है।

समस्त साधना की सफलता का आधार समता की प्राप्ति ही है। परन्तु आर्त्त और रौद्रध्यान समतारूपी लता को जलाकर भस्मीभूत कर देते हैं।

विषय की लोलुपता में से आर्त्त-रौद्रध्यान का जन्म होता है। विषयराग के निवारण बिना आर्त्त-रौद्रध्यान का निवारण सम्भव नहीं है और आर्त्त-रौद्रध्यान के निवारण बिना समता-लता की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः जिस आत्मा में आर्त्त-रौद्रध्यान की प्रबलता है और जो आत्मा विषयों में आसक्त बनी हुई है, उसके लिए समता - प्राप्ति की आशा स्वप्नतुल्य ही है। □

यस्याशयं श्रुतकृतातिशयं विवेक-
पीयूषवर्षरमणीयरमं श्रयन्ते।
सद्भावनासुरलता न हि तस्य दूरे,
लोकोत्तरप्रशमसौख्यफलप्रसूतिः ।। ६ ।।
(वसन्ततिलका)

अर्थ—श्रुतज्ञान से निपुण बना हुआ जिसका आशय, विवेक रूपी अमृतवर्षा से सुन्दरता का आश्रय बना हुआ है, उसके लिए लोकोत्तर प्रशमसुख को जन्म देने वाली सद्भावना रूपी कल्पलताएँ दूर नहीं हैं ।। ६ ।।

विवेचन

सद्भावनाएँ कल्पलताएँ हैं

श्रुतज्ञान के अतिशय से जिसका विवेक निर्मल बन चुका है, उसके लिए लोकोत्तर प्रशमसुख को जन्म देने वाली सद्भावनाएँ दूर नहीं हैं।

अविवेकी व्यक्ति इन भावनाओं का अभ्यास नहीं कर सकता है। भावनाओं के अभ्यास के लिए विवेक की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। अविवेकी और मूढ़ व्यक्ति अज्ञानता के रोग से ग्रस्त होता है। वह इन भावनाओं का मूल्यांकन कर ही नहीं सकता है।

विवेकी व्यक्ति ही इन भावनाओं का वास्तविक मूल्यांकन कर सकता है और फिर इन भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित कर सकता है। इन भावनाओं के अभ्यास से पौद्गलिक आसक्ति क्षीण होने लगती है। इन्द्रियों के सानुकूल विषयों के प्रति भी हृदय में वैराग्य प्रगट होता है और उस वैराग्य के कारण आत्मा में प्रशम सुख का जन्म होता है। सद्भावनाओं के अभ्यास से प्राप्त लोकोत्तर प्रशमसुख, चक्रवर्ती और इन्द्र के लिए भी दुर्लभ है।

'प्रशमरति' में कहा गया है कि—

प्रशमितवेदकषायस्य ,
हास्यरत्यरतिशोकनिभृतस्य ।
भयकुत्सानिरभिमवस्य ,
यत्सुखं तत्कुतोऽन्येषाम् ।। १२६ ।।

जिसने वेद और कषाय के उदय को शान्त किया है और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि पर जिसने विजय प्राप्त करली है, वह आत्मा जिस सुख का अनुभव करती है, वह सुख अन्य आत्माओं के नसीब में कहाँ से ?

कविवर ने इन सद्भावनाओं को कल्पलताओं की उपमा दी है, कल्पलता से समस्त इष्ट - सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार इन भावनाओं के नित्य भावन से लोकोत्तर प्रशम रूप सुख की प्राप्ति होती है। □

अनित्यत्वाशरणते, भवमेकत्वमन्यताम् ।
अशौचमास्रवं चात्मन् ! संवरं परिभावय ।। ७ ।।
कर्मणो निर्जरां धर्म-सूक्ततां लोकपद्धतिम् ।
बोधिदुर्लभतामेता, भावयन्मुच्यसे भवात् ।। ८ ।।
(अनुष्टुप्)

अर्थ—अनित्यता, अशरणता, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोकस्वरूप और बोधिदुर्लभता रूप इन भावनाओं का भावन करने से हे आत्मन् ! तू इस संसार से मुक्त हो जाएगी ।। ७-८ ।।

विवेचन

बारह भावनाएँ

अन्तिम दो गाथाओं में इन बारह भावनाओं का नाम-निर्देश किया गया है।

(1) **अनित्य भावना**—संसार का प्रत्येक पदार्थ, संसार के सभी संयोग-संबंध आदि अनित्य-नाशवन्त हैं।

(2) **अशरण भावना**--इस संसार में आत्मा के लिए वास्तव में कोई शरण्य नहीं है। आपत्ति-विपत्ति में उसका कोई रक्षक नहीं है।

(3) **संसार भावना**—इस संसार में एक ही आत्मा कभी माता बनती है, तो कभी पुत्र बनती है। संसार के सम्बन्ध बड़े ही विचित्र हैं।

(4) **एकत्व भावना**—आत्मा अपने सुख-दुःख की स्वयं ही कर्त्ता है। वह अकेली आई है और उसे अकेले ही जाना पड़ेगा।

(5) **अन्यत्व भावना**—आत्मा देह आदि से सर्वथा भिन्न है। वह न तो धन की स्वामी है और न ही अपने देह की।

(6) **अशौच भावना**—यह काया मांस-रुधिर-अस्थि आदि अशुचि से भरपूर है।

(7) **आस्रव भावना**—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि के सेवन से निरन्तर आत्मा में कर्मों का आगमन चालू है।

(8) **संवर भावना**—क्षमादि यतिधर्मों के परिपालन से आत्मा के आस्रव-द्वार बन्द हो जाते हैं।

(9) **निर्जरा भावना**—बारह प्रकार के तप के आसेवन से आत्मा सर्व कर्मों से मुक्त बनती है।

(10) **धर्म भावना**—आत्मा के स्वरूप तथा मुक्तिमार्ग के सम्बन्ध में विचार करना धर्मभावना है।

(11) **लोकस्वरूप भावना**—चौदह राजलोक का स्वरूप क्या है? इत्यादि विचार करना।

(12) **बोधिदुर्लभ भावना**—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति इस संसार में अत्यन्त दुर्लभ है। □

1

अनित्य भावना

वपुरिवपुरिदं विदभ्रलीला–
परिचितमप्यतिभङ्गुरं नराणाम् ।
तदतिभिदुरयौवनाविनीतम् ,
भवति कथं विदुषां महोदयाय ।। ६ ।।
(पुष्पिताग्रा)

अर्थ—चंचल बादल के विलास की तरह यह मनुष्य देह क्षणभंगुर है। यह शरीर यौवन के कारण वज्रवत् अक्कड़ बना हुआ है। ऐसा शरीर विद्वज्जन के महा-उदय के लिए कैसे हो सकता है ? ।। ६ ।।

विवेचन

क्षणविनश्वर देह !!

ग्रन्थकार महर्षि **'अनित्य भावना'** का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम शरीर की अनित्यता प्रस्तुत कर रहे हैं।

मानव का यह देह आकाश के बादलों की भाँति अत्यन्त चपल है। शरद् ऋतु में बादलों से छाये हुए आकाशमंडल को देखा ही होगा ? क्षणभर में सम्पूर्ण आकाश बादलों से व्याप्त

हो जाता है। किन्तु उनका अस्तित्व....? पवन का एक झोंका आते ही वे कहीं-के-कहीं बिखर जाते हैं और क्षण भर में तो उनका अस्तित्व नामशेष हो जाता है। बस! यही हालत मानव शरीर की है। ....आयुष्य कर्म की समाप्ति रूप पवन के एक झोंके से ही यह शरीर नष्ट हो जाता है।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज सर्वप्रथम देह की अनित्यता बतला रहे हैं, इसका मुख्य कारण है....देह की अत्यधिक ममता।

आहार से अधिक धन पर मूर्च्छा, धन से अधिक पुत्र पर, पुत्र से अधिक पत्नी पर और पत्नी से भी अधिक मूर्च्छा देह पर होती है।

• बम्बई में चंपक भाई का एक समृद्ध छोटा सा परिवार रहता था। परिवार में कुल चार ही सदस्य थे। पति-पत्नी और एक पुत्र व एक पुत्री। उस युगल को शादी किये चार ही वर्ष हुए थे।

एक दिन चंपक भाई ने अपने मित्रों को अपने घर भोजन के लिए आमंत्रण दिया। उसने वातानुकूलित कमरे में सभी मित्रों को सोफे पर बिठाया। थोड़ी ही देर में नाश्ते की प्लेटें आने लगीं। सभी मित्रों के साथ चंपक भाई नाश्ता प्रारम्भ कर ही रहे थे कि दुकान से मुनीम का फोन आया—"आप शीघ्र ही पधारिये, बाजार में भावों में बड़ी तेजी आ गई है। लाखों का मुनाफा हो सकता है।"

मुनाफा और वह भी लाखों का....सुनते ही चंपक भाई ने मित्रों को कहा—'मैं दो मिनिट में दुकान जाकर आता हूँ।

अनिवार्य (Urgent) काम आ पड़ा है, आप नाश्ता कीजिएगा....और चंपक भाई उठकर तत्काल दुकान पहुँच गए।

दुकान से घर लौटे रात को आठ बजे। दिन भर कुछ खाया भी नहीं। क्यों? लाखों के चक्कर में।

स्पष्ट है, आहार से धन अधिक प्यारा है।

एक दिन चंपक भाई दुकान पर हजारों का सौदा कर रहे थे, तभी उनकी पत्नी का फोन आया—'बच्चा पहली मंजिल से नीचे गिर पड़ा' तुरन्त घर आ जाओ।

चंपक भाई सौदे को बीच में ही छोड़कर घर आ गए और बच्चे को लेकर निदान के लिए अस्पताल पहुँचे।

चंपक भाई ने सौदे में लाभ की उपेक्षा की। क्यों? धन से पुत्र अधिक प्यारा था, इसीलिए न?

कुछ ही दिनों के बाद चंपक भाई को पत्नी गर्भवती बनी। प्रसूति का समय सन्निकट था और अचानक पत्नी की स्थिति गंभीर (Serious) हो गई। चंपक भाई तुरन्त अपनी पत्नी को अस्पताल ले गये।

डॉक्टर चंपक भाई की पत्नी का उपचार करने लगे। स्थिति गम्भीर थी। डॉक्टर ने बाहर आकर चंपक भाई को कहा—"दो में से एक बच सकता है– पत्नी या पुत्र। बोलो किसे बचाना है?"

चंपक भाई ने सोचा—"पुत्र तो भविष्य में भी मिल सकेगा।" अतः बोला—"पत्नी को बचा दो" और पत्नी के रक्षण

के लिए गर्भस्थ पुत्र को समाप्त कर दिया गया। क्यों ? पुत्र से भी पत्नी पर अधिक प्रेम था, इसीलिए न ?

एक दिन चंपक भाई की पत्नी रसोईघर में रसोई बना रही थी। चंपक भाई ने घर में प्रवेश किया। तभी चारों ओर से कोलाहल सुनाई दिया, 'भागो। भागो। चारों ओर आग लग गई है।' पुलिस आ चुकी थी और इस विशाल इमारत में से लोगों को बाहर निकालने के लिए इत्तला दे रही थी। तभी चंपक भाई को पुलिस ने कहा—'जल्दी कूद पड़ो यहाँ से, अन्यथा मर जाओगे।'

अपने प्राण (शरीर को) बचाने के लिए चंपक भाई कूद पड़े। पत्नी झुलस कर समाप्त हो गई।

चंपक भाई ने पत्नी के आने की इंतजारी न कर स्वयं का रक्षण कर लिया। क्यों ? पत्नी से भी अधिक उन्हें अपने प्राण प्रिय थे, इसीलिए न ?

ज्ञानियों का कथन है कि संसारी आत्मा को अपने देह पर अत्यधिक ममत्व होता है। इसीलिए तो दान, शील, तप और भाव में आगे-आगे का धर्म अत्यधिक कठिन है। दान से शील कठिन है और शील से तप कठिन है। दान में दूरस्थ धन की मूर्च्छा के त्याग का पुरुषार्थ है। शील में कुछ निकट स्त्री के त्याग का पुरुषार्थ है, जबकि तप में २४ घंटे साथ में रहने वाले देह की मूर्च्छा के त्याग का पुरुषार्थ है। अतः देह की मूर्च्छा का त्याग अधिक कठिन होने से कविवर बादलों की उपमा द्वारा देह के क्षणिक अस्तित्व का सर्वप्रथम वर्णन करते हैं।

पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि इस देह के साथ क्या

परिचय करें ? इसका अस्तित्व तो अत्यन्त ही क्षणभंगुर है। यह कब धोखा दे देगा, इसका पता नहीं।

और ओह ! यह क्षणभंगुर देह भी यौवन से कितना उन्मत्त बना हुआ है ? यौवन के आवेग-आवेश में वह अपने क्षणिक अस्तित्व में भी कितने भयंकर पाप-कर्म कर बैठता है।

याद आ जाती है आनन्दघनजी की ये पंक्तियाँ—

क्या तन मांजता रे, एक दिन मिट्टी में मिल जाना।
मिट्टी में मिल जाना बंदे, खाक में खप जाना ।। क्या० ।।

कितनी बोधदायी और प्रेरणादायी हैं ये पंक्तियाँ !

और एक पंक्ति दिल-दिमाग में गूंज रही है—

'....प्रेम से अतिपुष्ट किया, तन जलाया जाएगा।'

ओह ! इस देह की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए कितने-कितने पाप किए; लेकिन आखिर में इसने धोखा ही दिया।

ऐसा यह क्षणभंगुर देह एक बुद्धिमान् पुरुष के महोदय का कारण कैसे बन सकता है ? □

आयुर्वायुतरत्तरङ्गतरलं, लग्नापदः सम्पदः,
सर्वेऽपीन्द्रियगोचराश्च चटुलाः सन्ध्याभ्ररागादिवत्।
मित्रस्त्रीस्वजनादिसङ्गमसुखं. स्वप्नेन्द्रजालोपमं,
तत्किं वस्तु भवे भवे-दिह मुदामालम्बनं यत्सताम् ।।१०।।
(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—पवन से चंचल बनी तरंगों के समान आयुष्य अत्यन्त चंचल है। सभी सम्पत्तियाँ, आपत्तियों से जुड़ी हुई हैं। समस्त इन्द्रियों के विषय संध्या के आकाशीय रंग की तरह चंचल हैं। मित्र, स्त्री तथा स्वजन आदि का संगम स्वप्न अथवा इन्द्रजाल के समान है। अतः इस संसार में सज्जन के लिए कौनसी वस्तु आलम्बन रूप बन सकती है? ॥ १० ॥

विवेचन

सभी पदार्थ/संयोग विनाशी हैं

'अरे! यह किसकी श्मशान यात्रा निकल रही है?' दूर खड़े उस व्यक्ति ने अपने मित्र से पूछा।

'ओह! तुम्हें पता नहीं, सेठ रामलालजी का एकाकी पुत्र कल रात में हृदयगति रुक जाने से मर गया।'

"क्या कहा? सेठ रामलालजी का पुत्र अमरचन्द! गज़ब हो गया। गत वर्ष ही तो उसका विवाह हुआ था और उसका शरीर भी कितना हृष्ट-पुष्ट था? कल सुबह ही तो मैंने उसके साथ नाश्ता किया था··· और उसकी मृत्यु हो गई।" ऐसे और इस प्रकार के वार्तालाप हमें प्रतिदिन सुनाई देते हैं। ज्ञानियों के वचन कितने सत्य हैं। आयुष्य वायु से युक्त तरंग के समान अत्यन्त चपल है। कितना क्षणिक और नश्वर है यह जीवन!

इस संसार की संपत्तियाँ भी तो विपत्तियों से भरी हुई हैं। प्रत्येक संपत्ति के पीछे विपत्ति खड़ी है। यदि आपके पास धन-सम्पत्ति है तो आपको चोरों का सतत भय रहेगा। चोर का भय, राजकीय भय, ठगे जाने का भय आदि-आदि संपत्तिवान् व्यक्ति को ही सतत सताते रहते हैं।

और ये इन्द्रियाँ ! संध्या के आकाशीय रंग की तरह कितनी चपल और चंचल हैं। प्रति समय प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को पाने के लिए घूमती ही रहती है। इष्ट विषय के मिलते ही उसमें आसक्त बन जाती है और प्रतिकूल विषय मिलते ही वह निराश बन जाती है। संध्या के समय आकाश में विविध रंग छा जाते हैं ; किन्तु उनका अस्तित्व कब तक ? थोड़ी ही देर में वह रंग समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के प्रत्येक विषय भी अत्यन्त ही चपल हैं।

इस संसार में मित्र-स्वजन और स्त्री के सम्बन्ध भी स्वप्नवत् नाशवन्त हैं। कई बार स्वप्न में अपनी विविध प्रकार की अवस्थाओं को देखते हैं। कई बार राजा बन जाते हैं तो कई बार सेठ-साहूकार। परन्तु आँख खुलते ही सब गायब।

बस ! यही हालत है संसार के सम्बन्धों की। आँख बन्द होते ही (श्वास निकलते ही) सभी सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। जीवनभर सैकड़ों व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़े किन्तु एक मृत्यु, कैंची बनकर उन समस्त सम्बन्धों को काट देती है। प्राण निकल जाने के बाद कौन सा सम्बन्ध साथ रहता है ?

ओह ! इस संसार में ऐसी एक भी वस्तु नहीं है, जो आत्मा के उत्थान के लिए आलम्बनभूत बन सके ? फिर भी आश्चर्य है कि इसी संसार में लीन रहने की वृत्ति-प्रवृत्ति क्यों बनी रहती है ? ☐

प्रातर्भ्रातरिहावदातरुचयो, ये चेतनाचेतना ,
दृष्टा विश्वमनः प्रमोदविदुरा भावाः स्वतः सुन्दराः ।
तांस्तत्रैव दिने विपाकविरसान् हा नश्यतः पश्यतः ,
चेतः प्रेतहतं जहाति न भवप्रेमानुबन्धं मम ॥११॥
(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—हे भाई ! प्रातःकाल में (इस संसार में) चेतन अथवा अचेतन पदार्थ के जो स्वतः सुन्दर भाव, अत्यन्त रुचि को उत्पन्न करने वाले और लोगों के मन को प्रमोद देने वाले हैं, वे ही भाव परिपाक दशा को प्राप्त कर उसी दिन विरस होकर नष्ट हो जाते हैं, फिर भी आश्चर्य है कि प्रेत से नष्ट हुआ मेरा मन संसार-प्रेम के अनुबन्ध को नहीं छोड़ता है ।। ११ ।।

विवेचन

सुबह खिले ! शाम को मुरझाये !!

अरे भाई ! जरा रुक जाओ। संसार के इन नश्वर पदार्थों में इतने आसक्त मत बनो। इन पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का जरा चिन्तन करो। सुबह खिले हुए गुलाब के फूल को देखकर उसके सौन्दर्य में तुम मुग्ध बन जाते हो। किन्तु यह बात क्यों भूल जाते हो कि शाम होते ही इस गुलाब का सौन्दर्य समाप्त हो जाएगा।

तुम नवीन वस्त्रों को देखकर इतने मोहित बन रहे हो, किन्तु जरा विचार तो करो, इनकी शोभा कब तक ? कुछ ही दिनों के बाद ये ही वस्त्र तुम्हारे लिए अप्रीति का कारण बन जायेंगे।

ओह ! जिस डिजाइन वाले वस्त्र को लाने के लिए तुमने अपने माता-पिता से झगड़ा किया, जिस वस्त्र की सिलाई के लिए तुमने मुँहमाँगे रुपये दिये, जिस फैन्सी वस्त्र को पहनकर तुमने अपने शारीरिक सौन्दर्य को बढ़ाया; किन्तु कुछ ही दिनों के बाद कोई नई डिजाइन आ गई और अब तुम्हें उस नवीन डिजाइन वाले वस्त्र को पाने की लालसा हुई। नवीन

डिजाइन वाले वस्त्र को पाने की लालसा ने उस पुरानी डिजाइन के वस्त्र की कीमत घटा दी। अब उस वस्त्र की तुम्हारे लिए कोई कीमत नहीं।

संसार के समस्त पौद्गलिक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तन-शील हैं। कुछ ही दिनों पूर्व बम्बई में घटी यह घटना याद आ जाती है—

• लक्ष्मीचंद सेठ का पुत्र महेश बम्बई के एक कॉलेज में पढ़ता था। कॉलेज में पढ़ने वाली एक रूपवती कन्या के प्रति वह मोहित हो गया। किसी भी प्रकार से वह उस युवती से विवाह करना चाहता था, परन्तु उसे सफलता नहीं मिल पा रही थी। आखिर दो वर्ष के बाद उन दोनों की Court-marriage हो गई। श्रेष्ठिपुत्र महेश के आनन्द का पार नहीं था। विवाह सम्बन्ध के दो वर्ष व्यतीत हुए। एक दिन वे दोनों टैक्सी में बैठकर घूमने के लिए जा रहे थे और अचानक टैक्सी का भयंकर एक्सीडेंट हो गया। भाग्यवश महेश की जान बच गई किन्तु उसकी पत्नी अत्यन्त घायल हो गई थी। तुरन्त वह अपनी प्राणप्यारी पत्नी को अस्पताल ले गया। डॉक्टर की दवाई से उसकी पत्नी होश में आई। उसके चेहरे पर काच के बहुत से टुकड़े चुभे हुए थे। उन सब को सावधानी से निकाला गया और उसकी पत्नी मौत के मुख में जाने से बच गई।

आठ दिन बाद महेश अस्पताल में अपनी पत्नी को देखने के लिए आया। किंतु अब उसका आकर्षण समाप्त हो चुका था। जो चेहरा पहले अत्यन्त चमकदार और सौन्दर्य से भरा-पूरा था, अब उसका आकर्षण समाप्त हो चुका था, अतः

महेश ने डॉक्टर की जेब भर दी और अपनी प्राण-प्यारी (?) पत्नी को जहर का इंजेक्शन देकर मौत के घाट सुला दिया।

यह है इस संसार की हालत। ऐसी अनेक घटनाएँ आए दिन पढ़ने-सुनने को मिलती हैं।

कुछ ही समय बाद अपने सौन्दर्य और चमक को खोने वाले ऐसे क्षणिक पदार्थों में क्या राग करें ?

परन्तु आश्चर्य है कि प्रेत से ग्रस्त व्यक्ति की तरह सांसारिक-क्षणिक पदार्थों का राग छूटता ही नहीं है। जिस प्रकार प्रेताधीन व्यक्ति स्वतंत्र रूप से कोई प्रवृत्ति नहीं कर पाता है, उसी प्रकार राग से अंधी बनी आत्मा भी विवेकभ्रष्ट होने से स्वतंत्र रूप से स्व-हित की प्रवृत्ति नहीं कर पाती है। □

Don't Grieve Over Inevitable

For in that case the death of him who is born is certain; and the rebirth of him who is dead is inevitable. It does not, therefore, behove you to grieve over an inevitable event.

अनित्यभावनाष्टकम्

(राग—रामगिरि)

मूढ मुह्यसि मुधा, मूढ मुह्यसि मुधा,
विभवमनुचिन्त्य हृदि सपरिवारम् ।
कुशाशिरसि नीरमिव गलदनिलकम्पितम्,
विनय जानीहि जीवितमसारम् ।। मूढ···· १२ ।।

अर्थ—हे मूढ़ आत्मन् ! अपने परिवार और वैभव का हृदय में बारम्बार विचार कर । तू व्यर्थ में ही क्यों मोहित हो रहा है ? हे विनय ! तृण के अग्र भाग पर पवन से कम्पायमान जल-बिंदु के समान इस असार-जीवन को तू जान ले ।। १२ ।।

विवेचन

नाशवंत जीवन

पुण्य के उदय से जीवात्मा को धन की प्राप्ति होती है.... समृद्धि की प्राप्ति होती है और उस वैभव और विलासपूर्ण जीवन में जीवात्मा यह भूल जाता है कि उसे प्राप्त हुई यह समृद्धि क्षणभंगुर और नश्वर है । मदिरापान के बाद जैसे शराबी अपने वास्तविक अस्तित्व को भूल जाता है, उसी प्रकार

थोड़ी सी सम्पत्ति में जीवात्मा इतना रम जाता है कि उसे इस जीवन की वास्तविकता का भान ही नहीं रहता है।

वह अपने क्षणिक वैभव और बाह्य परिवार को शाश्वत मान बैठता है। अनेक जीवों को मरते देखकर भी उसे अपनी मृत्यु का विचार नहीं आता है। जीवन की इस अमरता की भ्रांति में वह रात-दिन धन-वैभव के संग्रह में प्रयत्नशील रहता है। धन-प्राप्ति तथा संग्रह की तीव्र लालसा में न्याय और नीति को भूल जाता है और अन्याय और अनीति का गुलाम बन जाता है।

प्रथम धन की प्राप्ति के लिए अपूर्व पुरुषार्थ, धन-प्राप्ति के बाद उसके संरक्षण की चिन्ता। प्राप्त धन को कोई लूट न ले....कोई चोर चोरी न कर ले....इत्यादि चिंताओं से वह सतत ग्रस्त रहता है और फिर उस धन को देखकर बारम्बार मोह पाता है। धन के समान ही उसका तीव्र मोह होता है—परिवार पर। कभी पत्नी के सुख-दुःख की चिन्ता... तो कभी पुत्र-पुत्री के सुख-दुःख की चिन्ता।

कुटुम्ब के ममत्व के बन्धन से जकड़ा हुआ होने के कारण वह सतत चिंतातुर रहता है। चिंता से ग्रस्त आत्मा को आत्म-चिन्तन के लिए अवकाश ही कहाँ रहता है?

पूज्य उपाध्यायश्री विनयविजयजी महाराज अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे विनय! तू जरा विचार कर। तूने तृण के अग्र भाग पर रहे जलबिंदु को तो देखा ही है न! उस जलबिंदु का अस्तित्व कब तक? पवन की एक लहर के साथ ही उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

बस, इसी के समान तेरा जीवन है। जरा सोच। वैभव और विलास के रंग-राग में इतना मस्त क्यों बन रहा है ?

तेरा जीवन ही जब क्षणभंगुर है, तब तेरा यह परिश्रम किस बात के लिए ?

पचास-पचास वर्ष के दीर्घ परिश्रम के बाद एक व्यक्ति चार मंजिल के आधुनिक डिजाइनदार मकान का निर्माण करता है। नवीनतम फर्नीचर और रंगों से मकान को सुसज्जित करता है। परन्तु आश्चर्य ! उस मकान का वह भोग करे, उसके पहले तो वह इस संसार से चिर-विदाई ले लेता है।

क्या फल हुआ इतने परिश्रम और पुरुषार्थ का ?

....संग्रह और सर्जन बहुत किया किन्तु गए खाली हाथ ही।

किसी कवि की ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—

हजारों ऐश के सामान,
मुल्ले और मालिक थे।
सिकन्दर जब गया दुनिया से,
दोनों हाथ खाली थे।।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज प्रस्तुत श्लोक के द्वारा जीवन की अनित्यता समझा रहे हैं। यदि मनुष्य जीवन की इस अनित्यता को समझ ले तो वह बहुत कुछ सावधान हो सकता है।

मनुष्य-जीवन दुर्लभ है और प्राप्त जीवन क्षणभंगुर है। इस मनुष्य-जीवन के माध्यम से जीवात्मा आत्मकल्याण कर

सकता है, परन्तु मोह से मूढ़ बनी आत्मा इस जीवन की क्षणिकता के साथ-साथ इसकी महत्ता को नहीं समझ पाती है। अतः कविवर 'मूढ़' शब्द से अपनी आत्मा को सम्बोधित कर रहे हैं और जागृत बनने के लिए प्रेरणा कर रहे हैं। □

पश्य भङ्गुरमिदं विषयसुखसौहृदम्,
पश्यतामेव नश्यति सहासम्।
एतदनुहरति संसाररूपं रया-
ज्जलदजलबालिका रुचिविलासम्॥ मूढ···· १३॥

अर्थ—जरा देख! विषयजन्य सुख के साथ तेरी मित्रता है, वह तो नाशवन्त है और वह तो देखते-देखते ही मजाक करते हुए नष्ट हो जाती है और यह संसार का स्वरूप तो बिजली की चमक का अनुसरण करने वाला है॥ १३॥

विवेचन

इन्द्रियसुख विनश्वर है

अधिकांशतः दुनिया का आकर्षण इन्द्रियसुख को पाने के लिए है—

कान को चाहिये—सुमधुर कर्णप्रिय संगीत।

आँख को चाहिये—मनोहर रूप-सौन्दर्य दर्शन।

नाक को चाहिये—इत्र व सुगन्धित फूलों की खुशबू।

जीभ को चाहिये—स्वादिष्ट व चटपटा भोजन।

त्वचा को चाहिये—सुकोमल 'डनलप' की शय्या।

सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने इष्ट-विषयों को पाने के लिए दौड़-धूप करती हैं। इष्ट-विषय की प्राप्ति के बाद उसके भोग-परिभोग में लीन बन जाती हैं।

भगवान महावीर की वाणी है—

'खणमित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा।'

एक क्षण भर के लिए इन्द्रिय के विषय सुखदायी हैं, किन्तु उसके परिणामस्वरूप दीर्घकाल तक आत्मा को दुःख ही भोगना पड़ता है।

इष्ट विषय के परिभोग में कण भर का सुख है, किन्तु उसके पीछे मण भर का दुःख है। प्रभु ने ठीक ही कहा है—

'खाणी अणत्थाण उ कामभोगा'

कामभोग आदि तो अनर्थों की खान हैं। जो आत्मा इन्द्रियों के विषय की गुलाम बन जाती है, वह आत्मा कभी सुख का अनुभव नहीं कर सकती है।

जिस सुख में पराधीनता है, वह सुख कैसे कहला सकता है ?

जरा सोचें ! एक-एक इन्द्रिय के विषय की पराधीनता से भी उन पशु-पक्षियों की क्या हालत होती है ?

(1) स्पर्शनेन्द्रिय के सुख में पागल बना हाथी जीवन पर्यंत गुलामी भोगता है।

(2) रसनेन्द्रिय में आसक्त बनी मछली मौत के घाट उतार दी जाती है।

(3) घ्राणेन्द्रिय के विषय में आसक्त भ्रमर कमल के अन्दर ही बंद हो मृत्यु को प्राप्त होता है।

(4) रूप के गुलाम उस पतंगे की परिस्थिति से तो आप कहाँ अपरिचित हो? बेचारा अग्नि में स्वाहा हो जाता है।

(5) और उस मधुर संगीत में आसक्त हिरण की हालत तो देखो। शिकारी के बाण से बिंध जाता है।

जब एक-एक इन्द्रिय की पराधीनता का भी मौत व जीवन-पर्यंत गुलामी का परिणाम हो सकता है, तो फिर जो मानव पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होगा, उसकी क्या हालत होगी?

....और जरा, कविवर की बात भी ध्यान से सुन लें, वे कहते हैं—

इन्द्रिय-विषय के सुख तो हाथ-ताली देते-देते नष्ट हो जाने वाले हैं। आषाढ़ी मेघ से जब आकाश घिरा हुआ होता है और उस समय जब मेघ घनघोर गर्जना करते हैं, उसी बीच कभी-कभी बिजली चमक उठती है। उस बिजली का प्रकाश अत्यन्त तेजस्वी होता है, परन्तु उसका अस्तित्व? ओह! एक क्षण भर में ही वह गायब हो जाती है। बस, इन्द्रिय के विषय भी बिजली की चमक की भाँति क्षणविनश्वर जानने चाहिये। □

हन्त हतयौवनं पुच्छमिव शौवनम्,
कुटिलमति तदपि लघुदृष्टनष्टम्।
तेन बत परवशाः परवशाहतधियः,
कटुकमिह किं न कलयन्ति कष्टम्॥ मूढ.... १४॥

अर्थ—अरे ! यह यौवन तो कुत्ते की पूंछ के समान अत्यन्त टेढ़ा होते हुए भी शीघ्र नष्ट हो जाने वाला है और जो उस यौवन का गुलाम बन गया, वह तो गुलाम की भाँति मन्द-बुद्धि वाला हो जाता है और ऐसा व्यक्ति किन-किन कटु फलों को प्राप्त नहीं करता है ? ।। १४ ।।

विवेचन

युवावस्था अस्थायी है

यौवन का उन्माद कुछ और ही होता है। किशोरावस्था व बाल्यावस्था में यदि किसी को संसार की अनित्यता आदि का पाठ सिखाया जाय तो वह जल्दी स्वीकार कर लेगा, किन्तु यौवन के प्रांगण में डग रखने के बाद संसार की अनित्यता को समझाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

यौवन तो वन से भी भयंकर है। वन में भूला व्यक्ति तो शायद घर पर सुरक्षित पहुँच भी सकता है, किन्तु यौवन में भूला व्यक्ति तो सदा के लिए भटक जाता है।

यौवनावस्था मनुष्य को दीवाना बना देती है। यौवन में एक जोश होता है....एक अहंकार की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। जवानी स्वतन्त्र जीवन की ओर प्रेरणा करती है।

अरे ! कवियों ने तो यौवन को 'काम' (विषय-वासना) का मित्र कहा है। सामान्यतः यौवन में काम का साम्राज्य छाया हुआ रहता है।

बचपन में धर्माभिमुख आत्मा भी यौवन में प्रवेश पाते ही विषयाभिमुख बन जाती है। इतिहास साक्षी है कि बाल्यवय में

त्याग का पंथ स्वीकार करने वाली भी अनेक आत्माएँ यौवन में प्रवेश के बाद पुनः संसार-सुख के अभिमुख बन जाती हैं।

यौवन का अपना अलग ही नशा होता है। अतः इस नशे की वास्तविकता को समझ लेना अनिवार्य है।

भीषण वन को भी पार करने के लिए एक मार्गदर्शक की आवश्यकता रहती है, तो फिर इस यौवन के अति भयंकर वन में एकाकी गमन कैसे हो सकता है? इस 'यौवन' में यदि सन्मार्ग-दर्शक सद्गुरु का योग न मिले तो यह यौवन उन्मार्ग के गहन गर्त में आत्मा को डुबो देता है।

पूज्य उपाध्यायजी म. उपमा अलंकार के द्वारा यौवन की उन्मत्तता हमें समझा रहे हैं। जिस प्रकार कुत्ते की पूँछ को सीधी करने के लिए कितना ही परिश्रम किया जाय, सब परिश्रम निरर्थक ही जाता है और वह पूँछ टेढ़ी की टेढ़ी रहती है। बस! इसी प्रकार का यह यौवन का उन्माद है। इसमें कितना ही समझाया जाय, किन्तु इस वय में वासना से निवृत्ति के पुरुषार्थ के लिए जीवात्मा शीघ्र तैयार नहीं हो पाती है।

परन्तु याद रखें, यह यौवनावस्था सदा काल रहने वाली नहीं है।

दूज का चांद प्रतिदिन अपनी एक-एक कला से अधिक प्रकाशित होता जाता है और कुछ ही दिनों के बाद वह चन्द्रमा पूर्णिमा के दिन अपनी सोलह कलाओं से खिल उठता है और वह सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित कर देता है। परन्तु अफसोस! उसका यह विकास मात्र अल्प समय के लिए ही होता है। दूसरे ही दिन से उसकी कलाएँ क्षीण होने लग जाती हैं और अमावस्या

की रात्रि में तो उस बेचारे (?) की दशा कैसी हो जाती है, वह हमसे अज्ञात नहीं है। बस ! यही हालत है, इस यौवन की। चढ़ती जवानी में तो व्यक्ति पागल सा बन जाता है। वह किसी की नहीं सुनता है। सबके ऊपर अपनी हुकूमत स्थापित करना चाहता है। परन्तु इस यौवन की सोलह कलाएँ मात्र अल्प वर्षों के लिए ही हैं। फिर उसका पीछा करती है—वृद्धावस्था। बाल सफेद हो जाते हैं। आँखों का तेज घट जाता है। चेहरे में पीलापन आ जाता है। पैर लड़खड़ाने लगते हैं, हाथ धूजने लगते हैं। दाँत गिर पड़ते हैं। वाणी अस्पष्ट हो जाती है। और फिर देखो उसकी हालत ! बच्चों के लिए वह बूढ़ा, तमाशा बन जाता है। युवा के लिए तिरस्कार का पात्र बनता है। फिर न संतान से प्रेम मिलता है, न पत्नी से सहानुभूति।

यौवन के कुकर्मों का तीव्र कटुफल वह साक्षात् अनुभव करता है। □

यदपि पिण्याकतामङ्गमिदमुपगतम्,
भुवनदुर्जयजरापीतसारम् ।
तदपि गतलज्जमुज्झति मनो नाङ्गिनाम्,
वितथमति कुथितमन्मथविकारम् ।। मूढ···· १५ ।।

अर्थ—त्रिभुवन में जिसे कोई न जीत सके, ऐसी जरावस्था मनुष्य के शरीर के सार को पी जाती है और उसके शरीर को निःसार (सत्त्वहीन) बना देती है, फिर भी आश्चर्य है कि लज्जाहीन प्राणी काम के विकारों का त्याग नहीं करता है।। १५ ।।

विवेचन

आशा की गुलामी भयंकर है

यौवन का सूर्य ज्योंही अस्ताचल की ओर ढलने लगता है, त्योंही शरीर कृश होने लगता है। शरीर की कृशता के साथ सभी इन्द्रियाँ भी शिथिल होने लगती हैं और मनुष्य का देह जरा से ग्रस्त हो जाता है।

'चार दिन की चांदनी फिर अंधेरी रात' कहावत के अनुसार यौवन की चमक भी कुछ ही दिनों की होती है। बुढ़ापा शरीर की शक्ति का शोषण कर देता है। हाथ-पैर अत्यन्त कमजोर हो जाते हैं।

जरा से ग्रस्त व्यक्ति की न तो कोई सेवा करता है और न ही कोई उसके सामने देखता है। परन्तु फिर भी आश्चर्य है कि जरा से जीर्ण देह वाले बूढ़े को भी कामवासना परेशान करती है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं,
दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं,
तदपि न मुञ्चति आशापिण्डम्॥

अहो! बूढ़े की भी क्या हालत है! शरीर का प्रत्येक अंग कमजोर हो चुका है, सिर के बाल सफेद हो चुके हैं, दाँत गिर चुके हैं, मुँह से लार टपक रही है, लकड़ी के सहारे चल रहा है, फिर भी महान् आश्चर्य है कि आशापिंड को वह नहीं छोड़ रहा है।

खाने की, पीने की, भोगने की तथा ऐश-आराम की वासनाएँ

उसे भी परेशान कर रही हैं। जीवन पर्यंत इन्द्रिय-सुखों के पीछे दौड़ा है, फिर भी उसे तृप्ति व संतोष नहीं है। नवीन फैशन की वस्तु को देखते ही उसे पाने के लिए लालायित हो उठता है।

'जरा' का पूरे लोक पर साम्राज्य है, वह धनी से धनी व्यक्ति को भी परेशान करती है और व्यक्ति के देह के समस्त सत्त्व को एक साथ पी जाती है।

फिर भी आश्चर्य है कि जरा से आक्रांत व्यक्ति भी काम की वासना से मुक्त नहीं हो पाता है।

७०-७५ वर्ष की उम्र में भी पत्नी की मृत्यु के बाद पुनः लग्न करने वाले बूढ़े को हम क्या कहेंगे ? सचमुच, वासना की गुलामी अपने भान को भुलाती है।

महाराजा शांतनु प्रौढ़वय में पहुँच गए थे, फिर भी नाविक कन्या सत्यवती को देखकर उसके रूप पर मोहित हो गए थे।

अरे ! आजकल अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में ४०-४० बार लग्न किए हुए स्त्री व पुरुष देखने को मिलते हैं। आखिर यह क्या है ? एक मात्र वासना की गुलामी ही न ? □

सुखमनुत्तरसुरावधि यदतिमेदुरम्,
कालतस्तदपि कलयति विरामम्।
कतरदितरत्तदा वस्तु सांसारिकम्,
स्थिरतरं भवति चिन्तय निकामम्॥ मूढ० १६॥

अर्थ—अनुत्तर विमान तक के देवताओं को जो अत्यन्त

सुख है, वह सुख भी काल-क्रम से समाप्त हो जाने वाला है। अतः अच्छी तरह से तू विचार कर ले कि इस संसार की वस्तुएँ कितने दिनों तक स्थिर रहने वाली हैं ? ।। १६ ।।

विवेचन

दैविक सुख का भी अन्त है

हे मूढ़ आत्मन् ! संसार की अनित्यता का जरा विचार कर।

शायद तू यह मानता होगा कि मनुष्य के भोग-सुख तो कदाचित् नष्ट हो सकते हैं, किन्तु दिव्य दैविक सुख में तो परम आनन्द है न ?

तेरे प्रश्न का जवाब हाजिर है– नहीं। देवलोक के सुखों में भी कोई माल नहीं है। हाँ ! मनुष्य की अपेक्षा देवताओं का आयुष्य अधिक लंबा है। वे पल्योपम और सागरोपम तक देव भव में रह सकते हैं। एक पल्योपम में असंख्य वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। इस प्रकार उनका दीर्घायुष्य अवश्य है।

हाँ, उनका शरीर भी वैक्रियिक होता है। वे अपना मन-चाहा रूप बना सकते हैं। वे इच्छित स्थान पर आसानी से जा-आ सकते हैं। उनके पास अनेक लब्धियाँ होती हैं। उनके शरीर में किसी प्रकार का मल-मूत्र नहीं होता है। उनकी काया अत्यन्त तेजस्वी होती है। वृद्धावस्था की उन्हें परेशानी नहीं है। न उन्हें भोजन पकाने की आवश्यकता रहती है और न ही खाने की। इच्छा-मात्र से ही उनकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। उनके पास अपरम्पार शक्ति भी होती है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी पूज्य उपाध्याय जी म. हमें समझा रहे हैं कि उन दिव्य सुखों के

प्रति भी आकर्षित होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अनुत्तर देव विमान का भी सुख एक दिन तो समाप्त हो जाता है।

देवलोक में सुख कितना ही क्यों न हो, परन्तु आखिर उस सुख के भोग-काल की मर्यादा है। उस मर्यादा के पूर्ण होते ही देव का भव पूर्ण हो जाता है और एक समृद्ध देव को भी गटर के समान मलिन गर्भाशय में अवतरित होना पड़ता है।

अपने दीर्घ आयुष्य की समाप्ति के छह मास पूर्व जब देवता अपने आगामी भव को देखते हैं तब उनकी स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो जाती है। वे अत्यन्त दुःखी हो जाते हैं, फूलों की शय्या भी उनके लिए अत्यन्त दुःखदायी बन जाती है।

'मुझे यह सब दिव्य सुख छोड़कर जाना पड़ेगा' इसकी कल्पना से ही देवता भयातुर हो जाते हैं।

जिस सुख का परिणाम दुःख रूप है, उस सुख को सुख कैसे कह सकते हैं? और वह भी तो अल्पकालीन है। आयुष्य की समाप्ति के साथ वह सुख भी छिन जाता है।

जब देवों का सुख भी सुखदायी नहीं है तो इस वर्तमान संसार के सुखों में पागल बनना, यह तो एकमात्र मूर्खता ही है। अतः संसार के इन सुखों की अनित्यता को समझकर उनसे सावधान बनने में ही बुद्धिमत्ता है। □

यैः समं क्रीडिता ये च भृशमीडिता,
यैः सहाकृष्महि प्रीतिवादम्।
तान् जनान् वीक्ष्य बत भस्मभूयङ्गतान्,
निर्विशङ्काः स्म इति धिक् प्रमादम्॥ मूढ० १७॥

अर्थ—जिनके साथ हमने क्रीड़ा की, जिनके साथ सेवा-पूजा की और जिनके साथ प्रेम भरी बातें कीं, उन लोगों को भस्मसात् होते देखते हुए भी हम निश्चिन्त होकर खड़े हैं, अहो ! हमारे इस प्रमाद को धिक्कार हो ।। १७ ।।

विवेचन

संसार के सभी सुख नाशवंत हैं

पदार्थ, सुख तथा जीवन की अनित्यता के दर्शन कराकर पूज्य उपाध्यायजी म. अब हमें स्वजन की ममता-त्याग के लिए उनकी अनित्यता बतलाते हुए फरमाते हैं—

हे मूढ़ आत्मन् ! अपने स्वजन के मोह में तू इतना मुग्ध बना है, किन्तु जरा विचार कर। जिनके साथ तूने अपना बचपन बिताया, जिनके साथ तूने नाना प्रकार के खेल खेले, उन सब परम प्रिय दोस्तों को भी तूने श्मशान में राख होते हुए देखा, अनेक की शव-यात्रा में भी तू शामिल हुआ। अनेक की चिता में आग भी तूने अपने हाथों से प्रज्वलित की। उन सबके देह-विनाश का तूने प्रत्यक्ष अवलोकन किया।

परन्तु फिर भी आश्चर्य है कि तू अपनी ही मौत को भूल गया। अनेक को मरते हुए जरूर देखा, परन्तु उनकी मृत्यु के दर्शन से तुझे अपने जीवन की अनित्यता का भान नहीं हुआ, बल्कि अधिकाधिक विलासिता के गर्त में तू डूबता गया।

बचपन के कई साथी मौत के मुँह में चले गए। अपने से ज्येष्ठ व पूज्य व्यक्तियों को भी तूने मरते हुए देखा, परन्तु फिर भी तुझे इस संसार के प्रति लेश भी विरक्ति नहीं हुई।

किसी की शव-यात्रा को तूने देखा तो यही सोचा कि 'बेचारा ! मर गया।' परन्तु उसकी मौत में तुझे जीवन की अनित्यता के दर्शन नहीं हुए और अपने जीवन को तो तू शाश्वत ही मानता रहा।

महापुरुषों का फरमान है कि जीवन क्षणभंगुर है। दूसरे की मौत में अपनी मृत्यु के दर्शन करो। जीवन की इस अनित्यता को समझकर प्रमाद का त्याग करो, क्योंकि मनुष्य-जीवन का प्रत्येक क्षण अत्यन्त ही कीमती है। महान् पुण्य के उदय से यह जीवन मिला है, अतः इसे व्यर्थ ही मत खो दो।

मनुष्य-जीवन के कीमती क्षणों को क्षणिक सुख के पीछे व्यतीत कर देना, एक प्रकार का पागलपन ही है।

क्षणिक सुख की दौड़ में अनन्तकाल व्यतीत कर दिया, परन्तु कुछ भी सुख हाथ नहीं लगा।

अतः अब स्व-जीवन की अनित्यता को समझने का प्रयास करो और आत्मा के भयंकर शत्रु प्रमाद को समाप्त कर डालो।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

इन्सान खो के वक्त को पाता नहीं कभी।
जो दम गुजर गया, वह फिर आता नहीं कभी।।

अतः सावधान बन जायें। भविष्य अपने हाथों में नहीं है और जो काल बीत चुका है, वह पुनः हाथ लगने वाला नहीं है। मात्र वर्तमान ही अपने हाथों में है, अतः सावधान बन प्रमाद का त्याग कर आत्म-कल्याण के पथ में जागरूक बनो। □

असकृदुन्मिष्य निमिषन्ति सिन्धूर्मिव-
च्चेतनाचेतनाः सर्वभावाः ।
इन्द्रजालोपमाः स्वजनधनसङ्गमा-
स्तेषु रज्यन्ति मूढस्वभावाः ।। मूढ० १८ ।।

अर्थ—समुद्र में उठती लहर के समान चेतन और अचेतन पदार्थ के समस्त भाव एक बार उठते हैं और पुनः शान्त हो जाते हैं। स्वजन और धन का संगम तो इन्द्रजाल के समान है, उनमें तो मूढ़ स्वभाव वाले ही राग कर सकते हैं ।। १८ ।।

विवेचन

संसार के संयोग नश्वर हैं

संसार के समस्त चेतन और अचेतन भावों की अनित्यता को बतलाते हुए पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि अहो ! इस दुनिया में आकर्षण की वस्तु भी क्या है ? जिसे देखो, जिससे प्रेम करो अथवा जिसे प्रेम दो, वे सब वस्तुएँ तो क्षणविनाशी ही हैं। या तो हमें उन वस्तुओं को छोड़कर जाना पड़ता है, अथवा वे वस्तुएँ हमें छोड़कर चली जाती हैं।

पंचसूत्रकार ने कहा है—

'संयोगो वियोगकारणम् ।'

संयोग वियोग का कारण है। जहाँ-जहाँ संयोग है, उसके ऊपर वियोग की नंगी तलवार लटक ही रही है।

शुभ-इष्ट के संयोग का अनुराग।

अशुभ-अनिष्ट के संयोग का द्वेष। यही तो संसार का मूल है।

ठीक ही कहा है—

'संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरम्परा।'

इष्टसंयोग की आसक्ति ने ही अपनी आत्मा को संसार में भटकाया है।

उपाध्यायजी महाराज फरमाते हैं कि भाई! जिन-जिन पदार्थों का तुझे आकर्षण है, जिनके बिना तुझे अपनी जिन्दगी शून्यसी लग रही है और जिनके प्रति तू अपना स्नेह प्रदर्शित कर रहा है, उन चेतन-अचेतन पदार्थों के स्वरूप का जरा तो विचार कर।

समुद्र में कई बार तरंगें उठती हैं, परन्तु उन लहरियों का अस्तित्व कब तक? क्षण भर में ही वे समाप्त हो जाती हैं। बस, चेतन-अचेतन पदार्थ की पर्यायों की स्थिति भी ऐसी ही है। वे भी क्षण भर अत्यन्त आकर्षक लगते हैं और कुछ ही समय बाद अत्यन्त तिरस्करणीय हो जाते हैं।

और अहो! स्वजन और धन के संगम तो इन्द्रजाल के समान हैं। कोई व्यक्ति माया अथवा मंत्र-शक्ति से विविध रचनाएँ खड़ी कर देता है, परन्तु वे वास्तविक न होने से विश्वसनीय नहीं हैं।

अंबड़ श्रावक ने सुलसा के समकित की परीक्षा के लिए इन्द्रजाल से ब्रह्मा, विष्णु, महेश और २५वें तीर्थंकर का रूप किया था, फिर भी सुलसा अपने सम्यक्त्व से चलित नहीं हुई थी।

सुलसा को उस इन्द्रजाल में लेश भी आकर्षण नहीं था, इसी प्रकार पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि इस जगत् में कंचन-कामिनी, कुटुम्ब-परिवार का जो समागम हुआ है, वह तो इन्द्रजाल की भाँति क्षण-विनश्वर है, अतः उसमें मोहित होना तो मूढ़ता की ही निशानी है। □

कवलयन्नविरतं जङ्गमाजङ्गमम्,
जगदहो नैव तृप्यति कृतान्तः।
मुखगतान् खादतस्तस्य करतलगतै-
र्न कथमुपलप्स्यतेऽस्माभिरन्तः ।। मूढ० १९ ।।

अर्थ—त्रस और स्थावर जीवों से भरपूर इस जगत् को निरन्तर ग्रास करते हुए भी आश्चर्य है कि यह यमराज कभी तृप्त नहीं होता। मुख में रहे हुए कवल को खा रहा है तो उसकी हथेली पर रहे हुए अपना अन्त कैसे नहीं आएगा? ।। १९ ।।

विवेचन

मृत्यु का सतत भय

एक मोटा-ताजा और स्वस्थ व्यक्ति है। कुछ कारणवश उसे दो दिन से भोजन नहीं मिल पाया है। आज एक बड़े सेठ के घर उसे भोजन का आमन्त्रण मिला है। भोजन के लिए वह आसन पर बैठ गया है। मिष्टान्न-पक्वान्न-नमकीन और साग-सब्जी से युक्त थाल भरकर उसके सामने लाया जाता है। उसे गहरी भूख लगी है। भोजन आते ही वह उस पर टूट पड़ने की तैयारी में है, अतः भोजन का थाल आते ही वह जल्दी-जल्दी

खाने लगता है। मिष्टान्न से उसने अपने मुँह को भर लिया है और दूसरा कवल हाथ में लिए तैयार बैठा है।

बस, इस रूपक के द्वारा पूज्य उपाध्यायजी महाराज जीवन की अनित्यता समझा रहे हैं। वे प्रश्न करते हैं कि उस भूखे व्यक्ति के हाथ में रहे कवल का अस्तित्व कब तक? इसका जवाब है—जब तक मुँह में रहा कवल गले न उतर जाय तब तक। ज्योंही मुख में रहा कवल नीचे उतरा नहीं कि हाथ में रहा कवल मुँह में चला जायेगा।

यही स्थिति है हमारे वर्तमान जीवन की।

यह सम्पूर्ण जगत् त्रस-स्थावर जीवों से ठसाठस भरा हुआ है। यमराज प्रति समय जीवों को ग्रसित करता जा रहा है।

भूखा व्यक्ति तो भोजन से तृप्त हो जाता है और क्षुधा-तृप्ति के बाद भोजन का त्याग कर देता है, परन्तु आश्चर्य है कि यह यमराज निरन्तर जीवों को ग्रास करते हुए भी सदा अतृप्त ही रहता है।

ऐसे यमराज की हथेली पर अपना अस्तित्व है, अतः आप ही सोचिए कि आपका अस्तित्व कितने समय तक रह सकता है?

मुँह में डाले कवल के नीचे उतरते ही, जैसे हाथ में रहा नया कवल मुँह में डाल दिया जाता है, इसी प्रकार यमराज की हथेली पर रहे हमारा अस्तित्व भी अत्यन्त क्षण-भङ्गुर ही है। हम उस दुष्ट यमराज के हाथों में से कैसे छूट सकते हैं?

वर्तमान न्यायतन्त्र में तो गुनहगार व्यक्ति भी बच सकता

है और सजा से मुक्त हो सकता है, किन्तु यमराज का त्रिभुवन में एकछत्र साम्राज्य है, उसके जाल से मुक्त होना असम्भव ही है।

जो कर्म से मुक्त बन चुके हैं उन मुक्तात्माओं पर ही यमराज का साम्राज्य नहीं है, बाकी तो सभी कर्मयुक्त आत्माएँ यमराज के आधीन ही हैं।

अतः जीवन की इस अनित्यता को समझ, यमराज के चंगुल में से सदा के लिए मुक्त बन सके, ऐसे सिद्ध-पद की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने से ही यह जीवन सार्थक बन सकता है। □

नित्यमेकं चिदानन्दमयमात्मनो,
रूपमभिरूप्य सुखमनुभवेयम्।
प्रशमरसनवसुधापानविनयोत्सवो,
भवतु सततं सतामिह भवेऽयम्॥ मूढ० २०॥

अर्थ—आत्मा के चिदानन्दमय स्वरूप को जानकर नित्य उस सुख का अनुभव करो। इस भव में प्रशमरस रूपी नवीन अमृत के पानरूप उत्सव सज्जन पुरुषों के लिए हमेशा होवें॥ २०॥

विवेचन

आत्मा की अमरता

संसार अनित्य है, संसार के पदार्थ अनित्य हैं। जीवन अनित्य है, वैभव - विलास अनित्य हैं। भोग - सुख अनित्य हैं। इस संसार के समस्त बाह्य पदार्थ अनित्य हैं। अतः प्रश्न खड़ा होता है कि सब कुछ अनित्य है तो क्या किया जाय ?

इसका जवाब पूज्य उपाध्यायजी म. देते हैं कि इस संसार के सभी पदार्थ क्षणविनाशी होते हुए भी आत्मा नित्य है। वह ज्ञानमय है, वह अक्षय सुख का भण्डार है। उस सुख का कितना ही भोग किया जाय, वह कभी क्षय होने वाला नहीं है।

आत्मा सच्चिदानंद है।

आत्मा का अस्तित्व शाश्वत है।

आत्मा का ज्ञान शाश्वत है।

आत्मा का आनन्द शाश्वत है।

अतः आत्मा के स्वरूप-सागर में जो डूब गया, उसने अक्षय-सुख को प्राप्त कर लिया।

संसार में दुःख तभी तक हैं, जब तक आत्मस्वरूप में मग्न न बने हैं। आत्मस्वरूप में जो मग्न बन गया, उसे दुःख का लेश भी स्पर्श नहीं हो पाता है। वह इस खारे समुद्र में भी शृंगी मत्स्य की भाँति मधुर जल रूप आत्म-सुख का स्वाद लेता रहता है।

कमल कीचड़ व सरोवर में पैदा होता है, परन्तु उससे सर्वथा अलिप्त रहता है। इसी प्रकार से जो व्यक्ति आत्मस्वरूप में डूब गया है, वह संसार-कीचड़ में रहते हुए भी उससे सर्वथा अलिप्त रहता है।

उसे पुत्र की मृत्यु नहीं रुला सकती। उसे शारीरिक पीड़ा दुःखी नहीं कर सकती। उसे धन का वियोग संतप्त नहीं कर सकता।

आत्मा की मस्ती कुछ न्यारी ही है। जिसने आत्मा के चिदानन्द स्वरूप का आस्वादन कर लिया, उसे चक्रवर्ती के सुख भी तुच्छ से प्रतीत होते हैं। उसे भोग-सुख भी दुःख रूप ही लगते हैं।

यहाँ पर पूज्य उपाध्यायजी महाराज शुभ-भावना अभिव्यक्त करते हैं—

"इस संसार में सज्जन पुरुषों के लिए सदैव प्रशमरस के अमृतपान का महोत्सव हो।" अर्थात्—सज्जन पुरुष सदा प्रशम भावना में लीन रहें। □

He who gives up all desires, and moves free from attachment, egoism and thirst for enjoyment, attains peace.

2

अशरण भावना

ये षट्खण्डमहीमहीनतरसा, निर्जित्य बभ्राजिरे ,
ये च स्वर्गभुजो भुजोर्जितमदा मेदुर्मुदा मेदुराः ।
तेऽपि क्रूरकृतान्तवक्त्ररदनैर्निर्दल्यमाना हठा-
दत्राणाः शरणाय हा दशदिशः प्रैक्षन्त दीनाननाः ।। २१ ।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—अपने असाधारण बल से छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर जो सुशोभित थे, जो स्वर्ग को भोगने वाले थे, जो अपनी भुजाओं के बल से मदोन्मत्त बने हुए थे और आनन्द की लहरियों में मस्त बने हुए थे, वे जब अत्यन्त क्रूर यमराज द्वारा अपने दाँतों से नष्ट कर दिए गए, तब भी वे अशरणभूत, दीन मुख वाले शरण के लिए दशों दिशाओं में देखते हैं ।। २१ ।।

विवेचन

अशरण्य संसार

ग्रन्थकार महर्षि अशरण भावना की प्रस्तावना करते हुए फरमाते हैं कि इस विराट् संसार में आत्मा के लिए शरण्यभूत एक भी स्थान नहीं है। जीवात्मा को जब थोड़ी सी समृद्धि प्राप्त हो जाती है, कुछ प्रसिद्धि हो जाती है और कुछ वैभव की

प्राप्ति हो जाती है, तब वह उसमें इतना लीन बन जाता है कि अपनी मृत्यु तक को भी भूल जाता है। उसे पता नहीं कि जिस वैभव के संग्रह के लिए खून का पसीना बहाया है, वह मृत्यु के समय उसे तनिक भी साथ देने वाला नहीं है। एक रूपक याद आ रहा है—

• एक अत्यन्त समृद्ध और सुसम्पन्न सेठ था। वैभव-विलास के साधनों की उसे कोई कमी नहीं थी। उसकी तिजोरी में अनेक हीरे, मोती, माणक, रत्न व जवाहरात थे। उसके एक ही पुत्र था, जो अत्यन्त ही आज्ञांकित था। पत्नी अत्यन्त रूपवती और सुशीला थी। सेठजी के पास विशाल बंगला था। सेवा-शुश्रूषा के लिए काफी नौकर वर्ग भी था।

एक दिन सेठ ने सोचा—"मेरा इतना बड़ा परिवार है, मेरे पास काफी समृद्धि भी है, किन्तु एक दिन तो मुझे यहाँ से विदाई लेनी ही पड़ेगी, अतः इनकी जरा परीक्षा तो कर लूँ कि इनमें से कौन-कौन मेरे साथ चलेगा ?"

सेठ पहुँच गए अपनी तिजोरी के पास। तिजोरी में सैकड़ों रुपये थे, हीरे थे, मोती थे, माणक थे और स्वर्ण के जेवर भी थे।

सेठ ने कहा—"बोलो, कुछ ही दिनों के बाद मैं यहाँ से चिर विदाई ले लूंगा, तब तुममें से मेरे साथ कौन-कौन कहाँ तक चलेगा ?"

हीरे-मोती-माणक आदि सभी ने मिलकर एक ही आवाज में कहा—"सेठजी ! आप इस बात के लिए आए हैं क्या ? तो छोड़िये इस बात को। हमें इस बात से कुछ लेना-देना नहीं है।"

सेठजी तो यह सुनकर भोंचक्के रह गए और सोचने लगे—"अहो! जिनके लिए जीवन भर का परिश्रम उठाया उसका यह परिणाम?

सेठजी ने नम्र स्वर से कहा—"भाई! ऐसी बात क्या करते हो? ऐसा अन्याय? मैंने तो तुम्हारे लिए झूठ बोला, चोरी की। सभी प्रकार का पापाचरण किया, यहाँ तक कि मैंने अपने शरीर की भी परवाह नहीं की। खाया-न-खाया, बे-समय खाया और सतत तुम्हारी चिन्ता में जलता रहा, फिर भी तुम्हारी ओर से यह परिणाम?"

सेठजी की इस बात को सुनकर सभी का गुस्सा दुगुना हो गया, सभी एक ही गर्जना से बोल उठे—"सेठजी! बन्द करो बकवास। आपको कल जाना हो तो आज चले जाएँ, हम तो अपने स्थान से एक इंच भर भी हटने वाले नहीं हैं और ज्यादा बकवास रहने दो। आपको जलाने की लकड़ियाँ भी हम ही लायेंगे।"

यह सुनकर सेठजी निराश हो गए। फिर पहुँचे अपनी प्रिया के पास। बोले—"प्रिये! मैंने जीवन भर तेरे लिए बहुत कुछ किया है। तेरी हर इच्छा की पूर्ति की है और तेरे मनोरथ को पूर्ण करने के लिए न मालूम मैंने कितने पाप किए हैं। स्वर्ण के आभूषण बनवाने के लिए मैंने कई लोगों को ठगा है....मैंने अपने शरीर को आभूषणों से सज्जित नहीं किया और सभी आभूषण तुझे ही सौंपे है।"

पत्नी बीच में ही बोल उठी—"स्वामिन्! आखिर यह सब कहने के पीछे आपका आशय क्या है?"

सेठजी ने कहा—"बात ऐसी है कि अब मैं थोड़े ही समय बाद इस संसार से चिर-विदाई लेने वाला हूँ, अतः बोल, तू मेरे साथ कहाँ तक चलेगी ?"

सुनते ही पत्नी बोल उठी—"ऐसी कुबात मत कीजिए····।"

सेठजी ने कहा—"इसमें कुबात कैसी ? तू बता तो सही····।"

पत्नी ने कहा—"आखिर साथ चलने में आप मेरी आशा क्यों रखते हैं ? मैं तो इस हवेली के द्वार तक भी नहीं आ सकूंगी····और अफसोस ! सबसे पहले घर के कोने में भी मुझे ही बैठना पड़ेगा।"

सुनते ही सेठजी हताश हो गए। सोचने लगे—"अहो ! जो अर्द्धांगिनी कहलाती है, वह घर के द्वार तक भी····नहीं।"

अब सेठजी पहुँचे अपने युवान पुत्र के पास। सेठजी का पुत्र प्रवीण अत्यन्त ही विनीत था। पिता के निकट आगमन के साथ ही वह अपने आसन से खड़ा हो गया। प्रवीण ने पिता को नमस्कार किया और बोला—"पिताजी ! आपने यहाँ आने का कष्ट क्यों उठाया ? मुझे ही बुला लेते····।"

सेठजी ने कहा—"बेटा ! इसमें कोई कष्ट की बात नहीं है····ऐसे ही मैं आ गया।"

बेटे ने कहा—"मेरे योग्य सेवा-कार्य ?"

सेठजी ने कहा—"बेटा ! एक बात तुझे पूछने आया हूँ। मैं इस संसार में थोड़े ही दिनों का मेहमान हूँ, कुछ ही दिनों के बाद

यहाँ से चिर-विदाई ले लूंगा····तब तू मेरे साथ कहाँ तक चलेगा ?"

बेटे ने कहा—"पिताजी ! आप विज्ञ हैं। आप यह कैसी बात करते हैं ? आज तक कौन किसके साथ चला है ?"

सेठजी ने कहा—"बेटा ! यह कैसी बात करता है। मैंने तेरे लिए क्या नहीं किया ? तेरी शिक्षा के लिए मैंने कितना श्रम उठाया ? मेरे धन का मालिक भी तू बनेगा····फिर भी इस उपकार का यह परिणाम ?"

बेटे ने नम्रता से कहा—"पिताजी ! आपने मुझ पर महान् उपकार किया है, परन्तु अधिक से अधिक मैं आपके साथ श्मशान तक आ सकूंगा····इससे अधिक तो नहीं। कदाचित् मैं यहाँ उपस्थित नहीं रहा, तो भी प्रथम टेलीफोन मुझे ही होने वाला है। दूर शहर से भी आकर आपकी श्मशान-यात्रा में शामिल होऊंगा और अन्त में आपकी चिता में सर्वप्रथम अग्नि-प्रज्वलित करने का आदेश भी मुझे ही मिलेगा।"

सुनते ही सेठजी को दिन में आकाश के तारे दिखने लग गए। सोचने लगे—"अहो ! जिसके लिए जीवन भर मेहनत की····वही मेरी देह में आग लगाएगा····ओह ! धिक्कार है, इस संसार को···· यहाँ कोई भी मेरा साथी नहीं।"

अन्त में, चौबीस घंटे जिसकी सेवा की जाती है, उस काया से भी सेठजी ने प्रश्न किया—"बोल ! तू मेरे साथ कहाँ तक ?"

काया ने कहा—"बस करो। मैं तो अधिक से अधिक चिता तक आपके साथ आऊंगी, उससे आगे नहीं।"

सेठजी अत्यन्त निराश हो गए और उन्हें संसार की अशरणता का भान हो गया।

यही हालत है इस संसार में प्राणियों की।

चक्रवर्ती छह खण्ड के विशाल साम्राज्य को प्राप्त कर उसमें लीन बन जाता है, भोग-विलास में वह डूब जाता है। ६४००० स्त्रियों का वह स्वामी होता है, अनेक मुकुटबद्ध राजा उसके चरणों में नित्य नमस्कार करते हैं। वैभव-विलास की उसे कोई कमी नहीं होती और उस समृद्धि में वह अपने आपको त्रिभुवन का अधिपति मान बैठता है।

परन्तु एक दिन मृत्यु आकर उसका गला दबोच लेती है और उसकी हालत मरियल कुतिया की भाँति हो जाती है। उसके शरीर का तेज समाप्त हो जाता है और वह अशरण्य बना हुआ चारों ओर शरण की शोध करता है। यह तो हुई चक्रवर्ती की बात। मृत्यु के समय स्वर्ग के सुखों को भोगने वाले देवों की दुर्दशा भी कुछ कम नहीं होती है। छह मास के पूर्व उनके अपने आगामी जन्म का बन्ध हो जाता है और ज्योंही मृत्यु निकट आती हुई दिखाई देती है—उनके होश-हवास उड़ जाते हैं, दिव्य सुख भी उन्हें तृणवत् लगते हैं, दिव्य अप्सराओं के संग में अब उन्हें आनन्द नहीं आता है अर्थात् मृत्यु के निकट आते ही देवों की स्थिति भी दयनीय बन जाती है।

अपनी बुद्धि के बल से धन-वैभव को पाकर अभिमान करने वाले, बलिष्ठ शरीर को धारण करने वाले और अपनी बुद्धिमत्ता

से अच्छे-अच्छे को मात देने वाले पुरुषों को भी जब मौत दिखाई देती है, तब वे भी हताश हो जाते हैं और चारों ओर मृत्यु से बचने के लिए डॉक्टर-वैद्य आदि को बुलाने के लिए भागदौड़ कराते हैं, किन्तु कोई भी उन्हें मृत्यु से बचा नहीं पाता है। □

तावदेव मदविभ्रममाली, तावदेव गुणगौरवशाली ।
यावदक्षमकृतान्तकटाक्षै-र्नेक्षितो विशरणो नरकीटः ।। २२ ।।
(स्वागतावृत्तम्)

अर्थ--जब तक शरण रहित मनुष्य रूपी कीटक, भयंकर यमराज की दृष्टि में नहीं आता है, तभी तक वह जाति आदि मद के भ्रम में घूमता रहता है और गुण के गौरव में खुश रहता है ।। २२ ।।

विवेचन

मृत्यु अवश्यम्भावी है

गत जन्मों के पुण्य के उदय से उत्तम जाति, उत्तम कुल और समृद्ध परिवार में जन्म हो गया, तो भी यह बुद्धिमान् मानव अभिमान के शिखर पर चढ़ जाता है और घमण्ड करने लगता है कि "हम तो ऊँचे कुल वाले हैं, हमारी जाति तुमसे ऊँची है, तुम तो हीन हो, दूर हटो, यहाँ से।"

कुछ लक्ष्मी मिल गई तो मानों त्रिभुवन का साम्राज्य मिल गया हो, इस प्रकार गर्व करने लगता है और गरीब व दीन की घोर उपेक्षा ही करता है। कामदेव के समान सुन्दर, आकर्षक रूप मिल गया, तो अभिमान करेगा। दूसरों की अपेक्षा कुछ

विशेष तप कर लिया तो उसका भी अभिमान····। अरे ! जो ज्ञान अभिमान से दूर रहने की शिक्षा देता है, उसे प्राप्त कर भी मनुष्य अभिमानी बन जाता है। 'मेरे जैसा बुद्धिमान् कोई नहीं, मैं सब कुछ जानता हूँ, मेरी सलाह के बिना कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता' इत्यादि-इत्यादि अभिमान करता रहता है।

मानव की यह कैसी दुर्दशा है, वह किसी वैभव को पचा नहीं पाता है—

धन मिल गया—धन का अभिमान।
रूप मिल गया—रूप का अभिमान।
बल मिला तो बल का अभिमान।
ज्ञान मिला तो ज्ञान का अभिमान।

ओह ! वह भूल जाता है कवि की इन पंक्तियों को—

चुन-चुन कंकड़ महल बनाया,
आप ही जाकर जंगल सोया।
इस तन धन की कौन बड़ाई,
देखत नयनों में मिट्टी मिलाई।।

लेकिन समृद्धि के शिखर पर आरूढ़ मानव यह भूल जाता है कि—

मोह से तेरा कमाया धन यहीं रह जाएगा।
प्रेम से अति पुष्ट किया तन जलाया जाएगा।।

मानव अभिमान के शिखर पर तभी तक अलमस्त रहता है, जब तक कृतान्त-यमराज की नजर में वह नहीं आता है। यमराज की नजर में आते ही उसके होश-हवास उड़ जाते हैं और वह अत्यन्त दीन बन जाता है।

जन्म के साथ ही मृत्यु जुड़ी हुई है उस मृत्यु के आगमन के साथ ही नरकीट की स्थिति अत्यन्त दयनीय बन जाती है। □

प्रतापैर्व्यापन्नं गलितमथ तेजोभिरुदितै-
र्गतं धैर्योद्योगैः श्लथितमथ पुष्टेन वपुषा ।
प्रवृत्तं तद्द्रव्यग्रहणविषये बान्धवजनै-
र्जने कीनाशेन प्रसभमुपनीते निजवशम् ।। २३ ।।
(शिखरिणी)

अर्थ—यमराज जब किसी प्राणी को अपने फन्दे में फँसा देता है, तब उसका सारा अभिमान नष्ट हो जाता है, उसका तेज गलने लगता है, धैर्य और पुरुषार्थ समाप्त हो जाते हैं, उसका पुष्ट शरीर भी शीर्ण हो जाता है और बन्धुजन भी उसके धन को अपने कब्जे में करने लग जाते हैं ।। २३ ।।

विवेचन

मृत्यु का सिरदर्द सबसे भयंकर है

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

न गाती है, न गुनगुनाती है ।
मौत जब आती है, चुपके से चली आती है ।।

वास्तव में, मौत निश्चित होते हुए भी वह अनिश्चित है। आएगी जरूर, किन्तु कब आएगी ? इसका पता नहीं।

मौत को अपनी आँखों के सामने देखते ही बलिष्ठ व्यक्ति भी

अपने आपको कमजोर महसूस करता है। इसी संदर्भ में एक घटना है—

• अपने सिर पर उग आए सफेद बाल को जानते ही वे महाराजा संसार से विरक्त बन जाते हैं, परन्तु कुछ परिस्थितियों से बाध्य होने के कारण वे संसार का परित्याग नहीं कर पाते हैं; लेकिन उनका मन संसार से विरक्त बन चुका है। वे शाही भोजन भी करते है किन्तु उसमें उनको अब रस नहीं। वे शाही वेश-भूषा भी पहनते हैं, किन्तु उसमें कोई आसक्ति नहीं। वे महारानियों के साथ उद्यान-क्रीड़ा भी करते हैं, किन्तु उनमें मन का आकर्षण नहीं।

चारों ओर नगर में यह बात फैल जाती है कि महाराजा संसार से विरक्त बन चुके हैं और किसी भी सानुकूल पल के आते ही वे संसार से महाभिनिष्क्रमण करेंगे।

एक दिन दूर देश से एक पथिक उस नगर में आता है और नगरजनों से महाराजा की विरक्ति के सन्दर्भ में बहुत कुछ प्रशंसा सुनता है। उस पथिक ने राजसभा में जाने का और महाराजा के विरक्त-जीवन के दर्शन करने का निर्णय किया। ठीक समय पर वह राजसभा में पहुँच गया। उसने महाराजा को शाही वेश-भूषा में देखा। आभूषणों से अलंकृत महाराजा के चेहरे को देख सोचने लगा—"इतने वैभव-विलास के साथ, महाराजा विरक्त कैसे हो सकते हैं?"

संध्या समय उसने महाराजा को महारानियों के साथ घूमते हुए भी देखा। उसने सोचा—"महाराजा के वैराग्य की बात

मात्र ढोंग-ढकोसला ही है। अतः महाराजा से साक्षात् मुलाकात कर इस प्रश्न का समाधान करूंगा।"

दूसरे दिन राजसभा के पूर्व ही वह महाराजा के पास पहुँच गया। महाराजा को नमस्कार आदि औचित्य व्यवहार कर बोला—"स्वामिन्! एक बात पूछने के लिए आपके सामने उपस्थित हुआ हूँ। आप नाराज तो नहीं···होंगे? आपकी आ···ज्ञा हो···तो?"

महाराजा ने कहा—"घबराओ मत। जो कुछ पूछना हो निस्संकोच पूछो।"

पथिक ने कहा—"राजन्! सम्पूर्ण नगर में यह बात प्रचलित है कि आप इस संसार से विरक्त बन चुके हैं। परन्तु राज-सभा आदि में मैंने आपके साक्षात् दर्शन किए, किन्तु आपके बाह्य आचरण में तो मुझे किसी प्रकार के वैराग्य की झाँकी नहीं दिख पाई, अतः मेरा यह प्रश्न है कि इस भोग-विलास के साथ आप विरक्त कैसे····?"

महाराजा ने कहा—"तुम्हारे इस प्रश्न का जवाब मैं पाँच दिन बाद दूंगा, तब तक तुम्हें राजमहल के बाह्य-खण्ड में ही ठहरना होगा।"

आगन्तुक ने सोचा—"अहो! अच्छा हुआ, विश्रांति के लिए राजमहल का खण्ड भी मिल गया।"

राजा ने कहा—"पाँच दिन तक आपको मेरे राजमहल में ही भोजन करना होगा।"

पथिक ने सम्मति दे दी।

पथिक को बाह्यखण्ड में आवास के लिए स्थान दे दिया गया।

ज्योंही भोजन का समय हुआ, राजा की ओर से एक कर्मचारी, पथिक को भोजन के लिए आमन्त्रण देने हेतु जा पहुँचा।

इस प्रकार के आमंत्रण से पथिक मन ही मन खुश हो उठा। तुरन्त ही सुन्दर वेश-भूषा पहनकर राजभवन के भोजन खण्ड की ओर आगे बढ़ा।

राजभवन में प्रवेश के साथ ही राजा की आज्ञा से एक कर्मचारी उसके पाद-प्रक्षालन के लिए तैयार था। पाद-प्रक्षालन के बाद वह भोजनखण्ड में जा पहुँचा।

भोजनखण्ड की शोभा कुछ निराली ही थी। ऋतु भी अनुकूल थी। ऊँचे आसन पर वह बैठा, तत्काल चांदी के थाल में पाँच पकवान व विविध खाद्य पदार्थ लाए गए और उसके सामने धर दिए गए।

उसने भोजन करना प्रारम्भ किया। मन में उसके आनन्द की सीमा नहीं थी। अत्यन्त उल्लसित हृदय से वह भोजन का आस्वाद ले रहा था।

भोजन के बीच वह कभी महाराजा की प्रशंसा करता, तो कभी भोजन के निर्माता रसोइयों की।

भोजन के बाद 'आराम-गृह' में आराम के लिए सुसज्जित शय्या तैयार थी। भरपेट भोजन के बाद उसने आराम-गृह में

प्रवेश किया और घंटे भर तक आराम किया। राजा की ओर से राजमहल के प्रत्येक खण्ड में उसे जाने-आने की छूट थी। राजमहल की विविध कलाकृतियों से उसका मन मयूर नाच उठता था। राजमहल के उद्यान में वह स्वर्गीय-सुख की कल्पना करता था।

इस प्रकार आनन्द-कल्लोल में चार दिन व्यतीत हो गए। पाँचवें दिन दोपहर को राजा से उत्तर की आशा थी।

पाँचवें दिन राजा ने उसके शाही स्वागत व शाही भोजन की व्यवस्था कर दी। किन्तु भोजन समय के पूर्व राजा ने एक मंत्री के द्वारा उसे एक सन्देश पहुँचाया कि कल के किसी अपराध के कारण आज संध्या समय तुम्हें फाँसी के तख्ते पर लटका दिया जाएगा। फाँसी-मृत्यु की बात सुनते ही उसके होश उड़ गए। उसी समय चार कर्मचारी उसे भोजन का आमंत्रण देने आ पहुँचे।

पथिक का मन फाँसी की सजा सुनते ही उद्विग्न बन चुका था, अतः आज उसे भोजन के आमंत्रण में कोई प्रसन्नता नहीं थी।

बे-मन उसने राजभवन में प्रवेश किया। प्रवेश द्वार पर दूध से उसके पाद-प्रक्षालन के लिए नौकर तैयार खड़ा था।

आज महाराजा की ओर से दूध से उसका पाद-प्रक्षालन किया गया, परन्तु आज का यह दूध से प्रक्षालन आग से भी अधिक गर्म लग रहा था। पाद-प्रक्षालन के बाद भी उसके चेहरे पर कोई प्रसन्नता नहीं थी। उदासीनता ने उसके चेहरे को घेर लिया था।

वह धीरे-धीरे चल रहा था, किंतु उसके पैर पीछे हटने की कोशिश में थे।

थोड़ी ही देर में वह भोजनखण्ड में जा पहुँचा।

पथिक के भोजन की आज विशेष तैयारियाँ थीं। विविध जाति के पकवान-मिष्टान्न-साग-सब्जी, नमकीन आदि बनाए गए थे।

सोने के थाल में उसे भोजन परोसा गया। महारानी स्वयं उसके एक ओर पंखा झलने लगी। मंत्रीश्वर स्वयं भोजन की परोसकारी करने लगे।

किन्तु आज उसके भोजन का रंग उड़ चुका था। न मिष्टान्न में उसे आनन्द था....न नमकीन में।

न उसे गुलाबजामुन के स्वाद का पता था और न ही दहीबड़े का। कुछ खाया....न खाया और वह उठ गया। उसका दिमाग चक्कर खा रहा था। आँखों के सामने मृत्यु झूम रही थी। कोई आनन्द नहीं।

भोजन के बाद वह आरामखण्ड में गया किन्तु आज आराम हराम बन चुका था, बिस्तर पर लेटा रहा, किन्तु नींद का नाम नहीं।

आखिर दोपहर का समय हुआ और महाराजा ने उसके आरामखण्ड में प्रवेश किया।

तुरन्त ही महाराजा ने कहा—"क्यों? आनन्द में हो न?

भोजन कैसा रहा? कौनसा मिष्टान्न सबसे अधिक प्रिय रहा?"

महाराजा के एक भी प्रश्न का जवाब उसके पास नहीं था। वह मौन खड़ा था....चेहरे पर उसके उदासीनता थी।

राजा ने कहा—"बात क्या है? क्या सिरदर्द है?"

पथिक ने कहा—"सिरदर्द से भी भयंकर दर्द है और वह है मृत्यु का। जब से आपने मेरे किसी अपराध के कारण फाँसी के समाचार भिजवाए, तब से आनन्द हराम हो चुका है। कुछ भी सूझ नहीं पा रहा है।

राजा ने कहा—"क्या कह रहे हो? मैंने तो कोई फाँसी के समाचार नहीं भेजे हैं।"

राजा की यह बात सुनते ही पथिक को कुछ राहत मिली।

राजा ने पूछा—"तुम्हारे प्रश्न का प्रत्युत्तर मिल गया न?"

पथिक ने कहा—"स्वामिन्! मैं नहीं समझ सका हूँ, क्या कहूँ, मैं तो अपना प्रश्न ही भूल गया?"

राजा ने कहा—"तुमने यह प्रश्न किया था कि इस वैभव-विलास के बीच मैं कैसे विरक्त रहता हूँ।"

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए राजा ने कहा—"मृत्यु के समाचार सुनने के बाद तुम पर क्या प्रतिक्रिया हुई? क्या तुम्हें भोजन के स्वाद का पता चला? क्या शाही स्वागत ने तुम्हें आनन्द दिया?

उसने कहा—"नहीं।"

राजा ने कहा—"बस। अपनी आँख के सामने मृत्यु को देखते ही तुम्हारे सब आनन्द समाप्त हो गए और तुम्हें उनमें कोई आसक्ति नहीं रही, इसी प्रकार मैं भी मृत्यु को अपनी आँखों के सामने सतत रखता हूँ, अतः बाहर से वैभव-विलास को भोगते हुए भी मृत्यु के भय के कारण मुझे कोई आनन्द नहीं आता है।

पथिक की शंका का समाधान हो गया। पूज्य उपाध्यायजी महाराज यही फरमाते हैं कि मृत्यु के आगमन के साथ मानव का प्रताप समाप्त हो जाता है। उसका तेज उड़ जाता है। उसको मृत्यु से बचाने वाला कोई नहीं होता है। बन्धुजन भी मात्र नाम का आश्वासन देते हैं और वे भी धन-सम्पत्ति बाँटने में लग जाते हैं। □

Prayer

Lead me from falsehood to reality.

Lead me from darkness to light.

Lead me from death to immortality.

द्वितीयभावनाष्टकम्-गीतम्

(राग – मारुणी)

स्वजनजनो बहुधा हितकामं, प्रीतिरसैरभिरामम् ।
मरणदशावशमुपगतवन्तम्, रक्षति कोऽपि न सन्तम् ।
विनय विधीयतां रे, श्रीजिनधर्मशरणम् ।
अनुसन्धीयतां रे, शुचितरचरण-स्मरणम् ।। विनय० २४ ।।
(ध्रुवपदम्)

अर्थ—स्वजन वर्ग अनेक प्रकार से हित की इच्छा करने वाला हो और प्रेम के रस में डुबो देने वाला हो, फिर भी जब व्यक्ति मरणदशा के अधीन होता है, तब कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर पाता है। अतः हे विनय ! तू जिनधर्म की शरण स्वीकार कर और अत्यन्त पवित्र चारित्र के साथ अपना अनुसन्धान कर ।। २४ ।।

विवेचन

एक मात्र शरण्य जिनधर्म

इस संसार में माँ के हृदय में पुत्र के प्रति, पत्नी के हृदय में पति के प्रति तथा बहिन के हृदय में भाई के प्रति प्रेम देखने को मिलता है, परन्तु वह सब प्रेम स्वार्थजन्य ही होता है। स्वार्थ-

सिद्धि के लिए ही सभी एक दूसरे को प्रेम देते हैं और ज्योंही स्वार्थ सिद्ध हो जाता है, उस व्यक्ति का मुँह भी नहीं देखते हैं। इसी सन्दर्भ में एक घटना याद आती है।

• किसी नगर में एक सेठ रहता था, सेठ अत्यन्त ही समृद्ध और प्रतिष्ठित था। सेठ के दो पुत्रियाँ और एक पुत्र कुल तीन सन्तान थी। पुत्र का नाम 'अमर' था। अमर यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ ही था कि पिता ने एक सुन्दर रूपवती श्रेष्ठि-कन्या के साथ उसका विवाह करवा दिया। सेठ व सेठानी का अपने इकलौते पुत्र के प्रति अपार स्नेह था, वे उसके विरह को सहन नहीं कर पाते थे।

एक दिन अमर भ्रमण के लिए नगर के बाहर निकल पड़ता है। अचानक एक महान् महात्मा के साथ उसकी भेंट हो जाती है। महात्माजी के चरणों में वह नमस्कार करता है, महात्मा उसे आशीर्वाद देते हैं। कुछ परिचय के बाद महात्मा उसे संसार की असारता व स्वार्थान्धता समझाते हैं। 'संसार में प्रेम झठा और स्वार्थजन्य है।' इस प्रकार के महात्मा के वचनों को वह सुन तो लेता है, किन्तु मन विश्वास करने के लिए तयार नहीं होता।

वह कहता है—"महात्माजी ! आप यह कैसी बातें करते हैं। मेरी माता और मेरे पिता को तो मुझ पर अपार प्रीति है। वे क्षण भर भी मेरे विरह को सहन नहीं कर पाते हैं। घर पहुँचने में कुछ देरी हो जाय तो वे चिंतातुर हो जाते हैं और चारों ओर छानबीन करा देते हैं। अतः संसार में प्रेम नहीं है, यह बात मैं स्वीकार नहीं सकता।

महात्मा ने कहा—"मेरी बात आज तू भले ही स्वीकार नहीं करेगा, किन्तु कुछ समय बाद तुझे सत्य की अनुभूति हो जाएगी। महात्मा ने आगे कहा—'कल पुनः मेरे पास आना।"

दूसरे दिन पुनः अमर महात्मा के पास पहुँच गया। महात्मा उसे जंगल में ले गए और उसे एक बिशाल वृक्ष बताते हुए बोले—"देखो! इस वृक्ष के ऊपर कितने सारे पक्षी हैं? सभी कल्लोल कर रहे हैं। पथिक भी आकर इसकी छाया में विश्राम करते हैं और इसके मूल में सिंचन करते हैं। यहाँ इतने जीव-जन्तुओं का आगमन है, इसका कारण समझे?

अमर ने कहा—"नहीं।"

महात्मा अमर के साथ कुछ आगे बढ़े एक सूखे, फल-फूल व पत्ते रहित एक वृक्ष के ठूंठ को बताते हुए बोले—बोल अमर। इस वृक्ष के ऊपर एक भी पक्षी क्यों नहीं? पथिक इसके नीचे विश्राम क्यों नहीं करते हैं? कोई आकर इसका जल-सिंचन क्यों नहीं करता है?

अमर ने कहा—"यह तो स्पष्ट बात है, जहाँ छाया नहीं, फल नहीं, वहाँ कौन आएगा?"

महात्मा ने कहा—"यही तो संसार की हालत है। जिस वृक्ष से कुछ पाने की आशा है, वहाँ सभी दौड़कर आते हैं और जहाँ पाने की आशा नहीं, वहाँ एक पंखी भी पास नहीं फटकता है। संसार भी इसी का प्रतिबिम्ब है। जो समृद्ध है, जो कुछ देता है, वहाँ सभी दौड़ते हैं, जिसके पास देने को कुछ नहीं, उसके पास कोई नहीं आएगा, उससे कोई प्रेम नहीं करेगा।"

अमर ने कहा—"आपकी बात कुछ अंश में सत्य भले हो, किन्तु सम्पूर्ण सत्य तो नहीं। ओह! मुझ से मेरी माँ को, मेरी पत्नी को कितना प्रेम है, इसको मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता हूँ।"

महात्मा ने सोचा—"आखिर इसे सत्य की अनुभूति करानी पड़ेगी।" वे बोले—"कल पुनः मुझ से मिलना।"

दूसरे दिन पुनः अमर आया। महात्मा उसे एक विशाल सरोवर पर ले गए, जिसमें विविध पक्षी क्रीड़ा कर रहे थे। मनुष्य भी उसमें स्नान कर रहे थे।

फिर महात्मा उसे एक शुष्क सरोवर पर ले गए, जहाँ न कोई पक्षी था और न कोई मनुष्य। सब कुछ श्मशान की भाँति शून्य था।

महात्मा ने कहा—"देख लिया दोनों तालाबों के बीच अन्तर। तालाब में पानी है तो सब का आगमन और शुष्क पड़ा है तो निर्जन। ऐसा ही तो संसार है।"

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए महात्मा ने आगे कहा—"फिर भी तुम्हें विश्वास न हो तो आज तुम्हें परिवार के प्रेम की परीक्षा कराना चाहता हूँ। आज तुम ज्योंही घर के निकट पहुँचो, बेहोश होकर नीचे गिर पड़ना। सबके प्रयत्न के बावजूद भी मत उठना। बेहोश की भाँति पड़े रहना, संध्या समय मैं आऊंगा, तब तुम्हें सत्यानुभूति करा दूंगा।"

महात्मा के निर्देशानुसार अमर ज्योंही अपने घर के निकट पहुँचा, भूमि पर गिर पड़ा। अमर के गिरते ही चारों ओर से

लोग दौड़ पड़े और अमर को देखने लगे। अमर को बेहोश देखकर सभी चिंतातुर बन गए। तत्काल उसके माता-पिता भी आ गए और करुण विलाप करने लगे। माँ रोते हुए बोली—"बेटा! बोल तो सही। कैसे गिर गया, कहीं चोट तो नहीं लगी?" किन्तु अमर तो मौन था। अमर के मौन ने उसकी बीमारी को भयावहता को बढ़ावा दिया।

कुछ लोग अमर को उठाकर उसके आरामखण्ड में ले आए। चारों ओर भागदौड़ होने लगी, कोई वैद्य को बुलाने भागा तो कोई हकीम को।

थोड़ी ही देर में वैद्य आया। दवाई दी, किन्तु कोई सुधार नहीं।

हकीम आया। उसने अपना उपचार किया, किन्तु कोई फर्क नहीं।

नये-नये वैद्य, डॉक्टर आने लगे, लेकिन कोई फर्क नहीं।

घर में सभी परेशान हो गए। अब क्या किया जाय? माँ रो रही है, पत्नी की आँखों में आँसू हैं। किसी ने भोजन नहीं किया।

अमर के पिता दरवाजे के पास बाहर खड़े थे, तभी वे महात्मा उस मार्ग से गुजरने लगे। महात्मा को देखते ही सेठजी ने झुककर उनके चरणों में नमस्कार किया और बोले—"कृपालो! कृपा करो····मेरा एकाकी बच्चा····मृत्यु श···य्या पर ···। वह कुछ बोल नहीं पा रहा है····आप उसे ठीक कर दीजिए।"

महात्मा ने कहा—"ठीक करना तो आसान बात है, किन्तु हम दुनिया से विरक्त हैं, हम दुनियादारी में गिर पड़ेंगे तो प्रभु का ध्यान····।"

सेठ ने विनती करते हुए कहा—"कृपासागर! इतनी मेहर कर दीजिए। आपके इस उपकार को जिन्दगी भर नहीं भूलूंगा।"

महात्मा ने अपनी सम्मति दे दी। सेठजी महात्मा को अमर के पास ले आए। महात्मा ने कहा—"सभी दूर रहिए। मैं अभी मंत्र का जाप करता हूँ, सब अच्छा हो जाएगा। अभी कटोरी में कुछ पानी ले आओ।"

तत्काल पानी लाकर महात्मा को सौंप दिया गया। महात्मा ने बीच में पर्दा करा दिया और मंत्र जाप करने लगे। थोड़ी ही देर बाद वे पर्दे से बाहर निकल आए और सभी परिवार-जनों को इकट्ठा कर बोले—"मैं इसकी असाध्य बीमारी को मंत्र-शक्ति से खींचकर इस कटोरे में ले आया हूँ, अतः इस कटोरे के पानी को कोई पी जाय तो यह तत्काल ठीक हो सकता है, परन्तु खेद है कि जो पीएगा वह इस संसार से चिर-विदाई ले लेगा···।"

महात्मा की वाणी सुनते ही सभी के मुँह फीके हो गए। किसी के चेहरे पर उस कटोरे के पानी को पीने के लिए उत्साह नहीं था, सभी एक दूसरे का मुँह ताक रहे थे। माँ, पत्नी पानी पी ले ऐसी आशा कर रही थी और पत्नी, उसकी माँ पानी पी ले, ऐसी आशा। महात्मा ने वह कटोरा सभी के पास घुमाया, किन्तु सभी ने पानी पीने से मना कर दिया।

अन्त में महात्मा बोले—"यदि आप तैयार नहीं हैं तो मैं····पी जाता हूँ।"

सुनते ही सभी के चेहरे आनन्द से खिल उठे। सभी ने एक ही आवाज में कहा—"महात्माजी! आपका बहुत बड़ा उपकार होगा, आपके उपकार को हम कभी नहीं भूल सकेंगे।"

और तत्काल महात्मा ने उस कटोरे का जल पी लिया। महात्मा के जलपान के साथ ही 'अमर' खड़ा हो गया।

महात्मा तत्काल घर से निकल पड़े और अमर भी उनके पीछे जाने लगा। अमर को स्वस्थ देखते ही माँ बोली—"बेटा! तबियत तो ठीक है न? तू कुछ बोला भी नहीं। तेरे बिना मैं कितनी दुःखी थी।"

अमर को अब कल्पित प्रेम की वास्तविक अनुभूति हो चुकी थी। उसने कहा—"तुम्हारा प्रेम मैं जान गया.. मेरे लिए प्राण देने वाले तो एक महात्मा ही हैं, मैं उन्हीं के पास जाऊंगा।"

और अमर अपने परिवार को छोड़ महात्मा की शरण में आ गया।

संसार के प्रेम की यही वास्तविकता है। मृत्यु के निकट आने पर स्वजन भी कुछ नहीं कर पाते हैं। स्वजन भी परजन बन जाते हैं।

संसार में आत्मा को कोई शरणदाता नहीं है। अतः फिर प्रश्न उठता है—किसकी शरण में जाय? पूज्य उपाध्यायजी म.

इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि हे आत्मन् ! इस संसार में एक जिनेश्वर का धर्म ही शरणभूत है। केवली प्ररूपित धर्म की शरणागति के बाद आत्मा निर्भय बन जाती है। जिस प्रकार जिस व्यक्ति ने कवच को धारण कर लिया है, उसे युद्ध-भूमि में विशेष भय नहीं रहता है, उसी प्रकार जिस आत्मा ने जिनधर्म की शरणागति रूप कवच को धारण कर लिया है, उसके लिए मोहराजा के भयंकर अस्त्र-शस्त्र भी निष्फल हो जाते हैं, भयंकर मोह भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता है।

जिनधर्म की शरणागति के साथ पवित्र चारित्र का पुनः-पुनः स्मरण व आसेवन करना चाहिये। पवित्र चारित्र के दस भेद हैं—(१) क्षमा (२) मार्दव (३) आर्जव (४) निर्लोभता (५) तप (६) संयम (७) सत्य (८) शौच (९) ब्रह्मचर्य और (१०) आकिंचन्यता।

अनाथी मुनि ने श्रेणिक महाराजा को वास्तविक नाथपन समझाया था और यही कहा था कि—

जिनधर्म बिना नरनाथ।
नथी कोई मुक्ति नो साथ ।।

जिनधर्म ही आत्मा का मुक्तिपर्यन्त सच्चा साथी बन सकता है। सच्चा साथी वही है, जो लक्ष्य तक पहुँचावे। संसार में ऐसा कोई साथी नहीं है, जो हमें इष्ट-स्थान (मोक्ष) तक पहुँचा सके, एकमात्र जिनधर्म ही हमारे लिए सहारा हो सकता है, अतः उसी का शरण स्वीकार करना चाहिये। □

तुरगरथेभनरावृतिकलितं, दधतं बलमस्खलितम् ।
हरति यमो नरपतिमपि दीनं, मैनिक इव लघुमीनम् ।। २५ ।।

अर्थ—जिस प्रकार एक छोटे मत्स्य को बड़ा मत्स्य निगल जाता है, उसी प्रकार घोड़े, रथ, हाथी तथा पैदल सैन्य से अस्खलित बल को धारण करने वाले और अत्यन्त दीन बने राजा को भी यमराज उठा ले जाता है ।। २५ ।।

विवेचन

सैन्य से भी रक्षण असंभव है

याद आ जाती है कवि की ये पंक्तियाँ—

जिनके महलों में, हजारों रंग के फानूस जलते थे ।
उनकी कब्रों का आज, निशां भी नहीं ।।

हजारों सम्राट् इसी पृथ्वीतल के साम्राज्य को भोगकर चल बसे, किन्तु आज उन्हें कोई याद नहीं करता है। बड़े से बड़ा सम्राट् भी मृत्यु के बाद धीरे-धीरे विस्मृत होता जाता है।

इस संसार में मत्स्यगलागल न्याय है। समुद्र में छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है। बस, इसी प्रकार यमराज भी इस संसार में रहे प्राणियों को ग्रास करता जाता है। कोई उसके चंगुल से बच नहीं पाता है।

छह खंड के अधिपति चक्रवर्ती भी इस पृथ्वीतल पर आए। लाखों-करोड़ों का उनका सैन्यबल था। एक संकेत करते ही लाखों लोग उनकी आज्ञा का पालन करते थे। परन्तु

उनको भी यमराज उठा ले जाता है, उस समय उनका विराट् सैन्य भी उनको मृत्यु से बचा नहीं पाता है।

सम्राट् सिकंदर "विश्वविजेता" बनने के अपने स्वप्न को साकार करने हेतु प्रयत्नशील था। विशाल सैन्यदल का वह मालिक बन चुका था, लेकिन एक दिन वह मृत्यु-शय्या पर गिर पड़ता है और उसे इस सत्य की अनुभूति हो जाती है कि धन, डॉक्टर और सैन्यबल भी उसे मृत्यु से बचा नहीं सकते हैं। अतः उसने अपनी शव-यात्रा में अपने दोनों हाथों को बाहर खुले रखने की आज्ञा की थी, इसके साथ उसने अपनी शव-यात्रा में सुप्रसिद्ध वैद्य-चिकित्सकों को तथा विराट् सैन्यबल को साथ में रखने का आदेश दिया था इसीलिए कि वह दुनिया को सत्य सिखाना चाहता था कि—

(1) धन मृत्यु से बचा नहीं सकता है।

(2) वैद्य मृत्यु से बचा नहीं सकते हैं और

(3) विराट् सैन्यबल भी मृत्यु से बचा नहीं सकता है। ❑

प्रविशति वज्रमये यदि सदने, तृणमथ घटयति वदने।
तदपि न मुञ्चति हत समवर्ती, निर्दय-पौरुषनर्ती ।। २६ ।।

अर्थ—कोई वज्र से निर्मित घर में प्रवेश कर जाय, अथवा मुख में तृण धारण कर ले तो भी निर्दय बनकर अपने पौरुष का नाच करने वाला, तिरस्कार योग्य तथा सबको समान गिनने वाला यमराज किसी को नहीं छोड़ता है ।। २६ ।।

विवेचन

यमराज का ताण्डव नृत्य

मृत्यु से बचने के लिए मनुष्य कदाचित् वज्र का महल खड़ा कर दे और उसमें घुस जाय, फिर भी वह बिचारा (रंक ?) मृत्यु से बच नहीं सकता है।

युद्ध-भूमि में तिनके को मुँह में रखना, हार के स्वीकार की निशानी है। तृण ग्रहण करने के बाद भयंकर शत्रु भी उस पर कोई प्रहार नहीं करता है। अतः कदाचित् मृत्यु से अपनी हार-स्वीकृति के लिए कोई व्यक्ति मुँह में तृण ले लेवे तो भी वह मृत्यु से बच नहीं सकता है।

यमराज तो जीवों पर सतत प्रहार करता ही जा रहा है। जीवों के जीवन की समाप्ति में ही वह आनन्द मानता है और उसमें उसे लेश भी थकावट का अनुभव नहीं होता है।

मृत्यु से बचने के लिए प्राणी उससे दया की भीख मांगे तो भी वह उस पर लेश भी दया करने के लिए तैयार नहीं है, वह तो अत्यन्त ही क्रूर है। निर्दयता का ताण्डव-नृत्य करने में उसे किसी प्रकार की शर्म नहीं है। वह छोटे-बड़े का, धनी-निर्धन का कोई भेद नहीं करता है। □

विद्यामन्त्रमहौषधिसेवां, सृजतु वशीकृतदेवाम्।
रसतु रसायनमुपचयकरणं, तदपि न मुञ्चति मरणम् ॥२७॥

अर्थ—कोई विद्या, मंत्र और महा औषधियों का सेवन करे,

देवताओं को भी अपने वश में कर ले तथा देह को पुष्ट करने वाले रसायनों का सेवन करे तो भी मृत्यु उसे नहीं छोड़ती है ।। २७ ।।

विवेचन

मृत्यु से बचना शक्य नहीं है

सभी जीवात्मा जीवन चाहते हैं, मृत्यु किसी को पसन्द नहीं, फिर भी मरना पड़ता है। सर्व जीवों पर मृत्यु का प्रहार सतत चल रहा है। एकमात्र मुक्तात्माओं पर ही उसका प्रहार निष्फल जाता है।

इस मृत्यु के जाल से बचने के लिए मनुष्य नाना प्रकार के प्रयत्न करता है और अन्तिम दम तक जीवन को बचाने के लिए मृत्यु से संघर्ष करता है। वह अनेक प्रकार की विद्याओं को सिद्ध करता है, वह नाना प्रकार के मंत्रों का जाप करता है, नाना प्रकार की औषधियों का सेवन करता है और नाना देवी-देवताओं को अपने अधीन करने के लिए साधनाएँ करता है। अपने शरीर को पुष्ट करने के लिए वह नाना प्रकार के रसायन-चूर्णों का सेवन करता है। उसके सारे प्रयत्न जीवन के रक्षण और मृत्यु से संरक्षण के लिए होते हैं। परन्तु अफसोस ! मृत्यु के आगे उसके सब प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। वह कीमती दवाओं के लिए लाखों रु. खर्च कर देता है, दूर-दूर से डॉक्टर व वैद्यों को बुलाता है, परन्तु मृत्यु के आगे उसका एक भी प्रयत्न सिद्ध नहीं हो पाता है। वह लाचार बन जाता है। दुनिया का कोई भी पदार्थ उसे मृत्यु से बचा नहीं पाता है।

□

वपुषि चिरं निरुणद्धि समीरं, पतति जलधिपरतीरम् ।
शिरसि गिरेरधिरोहति तरसा, तदपि स जीर्यति जरसा ।।२८।।

अर्थ—शरीर में लम्बे समय तक पवन को रोक दे, महासमुद्र के अन्य तट पर जाकर पड़ाव डाल दे, अथवा शीघ्र ही ऊँचे पर्वत के ऊपर भी चढ़ जाय तो भी मनुष्य जरा से अवश्य जीर्ण होता है ।। २८ ।।

विवेचन

वृद्धावस्था भयंकर है

मृत्यु के बाद दूसरा भय-स्थान है—जरावस्था का। वृद्धावस्था को रोकने के लिए मनुष्य कितना ही प्रयास करे किन्तु उसके समस्त प्रयत्न निरर्थक ही जाते हैं।

व्यायाम आदि के द्वारा शरीर को कितना ही स्वस्थ रखने का प्रयत्न किया जाय, कितना ही प्राणायाम किया जाय, फिर भी वृद्धावस्था रुकने वाली नहीं है। समुद्र के किनारे जाकर बैठें अथवा पर्वत के शिखर पर चढ़ जायें, फिर भी वृद्धावस्था रुकने वाली नहीं है और उसके आगमन के साथ ही शरीर कमजोर होने लगता है।

उत्पत्ति के साथ विनाश जुड़ा हुआ ही है। जन्म के साथ ही देह की जीर्णता प्रारम्भ हो जाती है। अंग्रेजी में ठीक ही कहते हैं—I am Three years old, I am Fifty years old. मैं तीन वर्ष का बूढ़ा हूँ....मैं पचास वर्ष का बूढ़ा हूँ....इससे स्पष्ट है कि बुढ़ापा तो सभी के जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। □

सृजतीमसितशिरोरुहललितं, मनुजशिरः सितपलितं ।
को विदधानां भूधनमरसं, प्रभवति रोद्धुं जरसम् ।। २९ ।।

अर्थ—मनुष्य के मस्तक पर अत्यन्त सुन्दर दिखने वाले काले बालों को जरावस्था सफेद बना देती है और शरीर को रसहीन (नीरस) बना देती है, ऐसी जरावस्था को रोकने में कौन समर्थ है ? ।। २९ ।।

विवेचन

अप्रिय वृद्धावस्था

सभी को यौवनावस्था प्रिय है, वृद्धावस्था किसी को प्रिय नहीं है। मस्तक के श्याम केश सुन्दर लगते हैं, किन्तु सफेद केश किसी को प्रिय नहीं हैं। वृद्धावस्था के आगमन के साथ ही मनुष्य के काले केश सफेद हो जाते हैं और उसका शरीर निस्तेज हो जाता है। यौवन की चाल भी बदल जाती है और व्यक्ति बड़ी कठिनाई से लकड़ी के सहारे धीरे-धीरे एक-एक कदम चलता है। दाँत गिर पड़ते हैं, लेकिन स्वाद जाता नहीं है। खाने की इच्छाएँ बनी रहती हैं।

वृद्धावस्था शरीर को जीर्ण-शीर्ण बना देती है। जीवन नीरस बन जाता है।

मनुष्य ऐसी जरावस्था का शिकार बनना नहीं चाहता है, परन्तु उस जरावस्था को रोकने में कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई समर्थ नहीं है।

उद्यत उग्ररुजा जनकायः, कः स्यात्तत्र सहायः ।
एकोऽनुभवति विधुरुपरागं, विभजति कोऽपि न भागम् ।।३०।।

अर्थ—मानव देह जब तीव्र व्याधियों से ग्रस्त बन जाता है, तब उसका सहायक कौन होता है ? ग्रहण की पीड़ा चन्द्रमा अकेला भोगता है, उस समय उसमें कोई भाग नहीं लेता है ।। ३० ।।

विवेचन

रोग सहित काया

आकाश में चन्द्रमा के साथ अनेक तारागण भी होते हैं, परन्तु जब चन्द्रग्रहण होता है, तब उससे चन्द्र ही ग्रसित होता है अन्य तारागण नहीं । इसी प्रकार धन-वैभव आदि की समृद्धि होने पर भी जब शरीर रोगों से घिर जाता है, तब स्वयं को ही पीड़ा भोगनी पड़ती है, उस पीड़ा में कोई सहायक नहीं हो पाता है ।

आप समृद्ध हैं तो आपकी बीमारी के निवारणार्थ बड़ी-बड़ी फीस लेने वाले डॉक्टर बुलाए जा सकते हैं, किन्तु दर्द की पीड़ा तो स्वयं को ही भोगनी पड़ती है । डॉक्टर या स्वजन उस दर्द में भागीदार नहीं बन सकते हैं ।

अनाथी मुनि गृहस्थ अवस्था में अत्यन्त ही समृद्ध थे । किसी भी प्रकार के धन-वैभव-स्वजन-परिवार की उन्हें कमी नहीं थी, किन्तु जब उनके शरीर में वेदना पैदा हुई, तब उस वेदना को बाँटने वाला कोई नहीं था । संसार का यह स्वभाव है ।

सुख में भागीदार बनने के लिए सब तैयार हैं, किन्तु दुःख में भागीदार बनने के लिए कोई भी तैयार नहीं। सभी सुख के साथी हैं, दुःख आने पर दूर-सुदूर ही भागने वाले हैं।

अनाथी मुनि ने अपनी अनाथता का साक्षात् अनुभव किया और यह संकल्प लिया कि मेरी बीमारी ठीक हो जाए तो मैं संसार का त्याग कर दीक्षा अंगीकार कर लूंगा। दूसरे ही दिन वे स्वस्थ हो जाते हैं और अपने संकल्पानुसार संसार का त्याग कर दीक्षा अंगीकार कर लेते हैं। □

शरणमेकमनुसर चतुरङ्गं, परिहर ममतासङ्गम्।
विनय! रचय शिवसौख्यनिधानं, शान्तसुधारसपानम् ॥३१॥

अर्थ—हे विनय! चार अंग स्वरूप (अरिहंतादिक का) शरण स्वीकार कर। ममता के संग का त्याग कर और शिवसुख के निधानभूत शांतसुधारस का पान कर॥ ३१॥

विवेचन

सच्चे शरण्य कौन?

संसार में जीवात्मा की सर्वत्र अशरण दशा है। उसी अशरण दशा से मुक्त होने के लिए पूज्य उपाध्यायजी महाराज तीन उपाय बतला रहे हैं—

(१) चतुःशरण गमन।

(२) ममता का त्याग।

(३) शान्त सुधारस का पान।

1. **चतुःशरणागति**– इस विश्व में जीवात्मा के लिए शरण्यभूत चार ही पदार्थ हैं—(१) अरिहन्त (२) सिद्ध (३) साधु और (४) केवली प्ररूपित धर्म।

अरिहन्त परमात्मा तीर्थ की स्थापना कर भव्य जीवों के लिए मोक्षमार्ग का प्रदर्शन करते हैं। अतः आद्य उपकारी वे ही हैं, वे स्वयं संसारसागर से पार हो चुके हैं और शरणागत को भी भवसागर से पार कर देते हैं। अतः वे अवश्य शरण योग्य हैं।

सिद्ध भगवान चौदह राजलोक रूप इस संसार के अग्र भाग पर स्थित हैं, जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि आत्म-गुणों के भण्डार हैं। सिद्ध भगवन्तों ने आत्मा के पूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर लिया है। अरिहन्त परमात्मा के लिए भी वे ध्येयस्वरूप हैं। वे अपनी स्थिति मात्र से मुमुक्षु आत्माओं पर महान् उपकार करते हैं।

तीर्थंकर के अभाव में शासन की धुरा को वहन करने वाले आचार्य भगवन्त ही हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु भगवन्त तीनों का जीवन उद्देश्य आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना हैं। वे ग्रामानुग्राम विचरण कर भव्य जीवों को धर्मोपदेश प्रदान करते हैं और सभी को मोक्षमार्ग में आगे बढ़ाते हैं। उनकी शरणागति से आत्मा में सुषुप्त साधुता जागृत होती है।

केवली प्ररूपित धर्म ही यथार्थ और मोक्षसाधक है। दुनिया में धर्म की बातें तो बहुत लोग करते हैं, परन्तु यथार्थ धर्म जिनेश्वर प्ररूपित ही है। उस धर्म की शरणागति के स्वीकार से आत्मा उत्थान के मार्ग पर आगे बढ़ती है।

2. **ममता का त्याग**—ममता ही आत्मा के परिभ्रमण और सर्व दुःखों का मूल है। संसार के सुख की ममता से आत्मा के विवेक-चक्षु बन्द हो जाते हैं और आत्मा किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है। पूज्य यशोविजयजी म. ने ठीक ही कहा है—

ममतान्धो हि यन्नास्ति तत्पश्यति न पश्यति।
जात्यन्धस्तु यदस्त्येतद् भेद इत्यनयोर्महान्॥

अर्थ—जाति से (जन्म से) अन्ध व्यक्ति तो जो पदार्थ है, उसे नहीं देखता है किन्तु जो ममता से अन्ध बना हुआ है वह तो जो जिस रूप में नहीं है, उसे उस रूप में देखता है। यही जन्मान्ध और ममतान्ध में भेद है।

जाति (जन्म) से अन्ध होना विशेष हानिकर नहीं है, किन्तु जो ममतान्ध बन जाता है, वह तो बहुत कुछ खो देता है।

ममता से अन्ध व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

ठीक ही कहा है—**'रागी दोषान् न पश्यति।'** रागी-आसक्त व्यक्ति वस्तु में रहे दोष को जान नहीं सकता है।

अतः जो आत्मा इस ममता का त्याग कर देती है और समता को प्राप्त कर लेती है, वह आत्मा इस संसार में अत्यन्त निर्भय बन जाती है। फिर संसार के सुख या दुःख उसे परेशान नहीं कर सकते।

3. **शान्त सुधारस का पान**—शान्त सुधारस का पान आत्मा को सुख के सागर में मग्न कर देता है। आत्मा तभी तक अशान्त रहती है, जब तक वह शान्त रस का पान नहीं करती है।

पूज्य उमास्वातिजी महाराज ने शान्त रस से भरपूर 'प्रशमरति' ग्रन्थ की रचना की है। उस ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है कि—

प्रशमितवेदकषायस्य, हास्यरत्यरतिशोकनिभृतस्य।
भयकुत्सानिरभिभवस्य, यत्सुखं तत्कुतोऽन्येषाम् ॥[1]

अर्थात् जिसने वेद और कषाय के उदय को उपशान्त कर दिया है और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि का पराभव कर दिया है, वह आत्मा जिस सुख का अनुभव करती है, वह सुख अन्य के लिए कहाँ है ?

क्रोध-मान-माया और लोभ इन चार कषायों के शमन से आत्मा शान्त बनती है। पाँच इन्द्रियों के अनुकूल विषयों के परित्याग से आत्मा शान्ति के महासागर में अवगाहन करती है।

कितना सुन्दर और सचोट उपाय बतला दिया है पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने।

रोग तो बतला देवे किन्तु इलाज न करे तो वह डॉक्टर प्रशंसनीय नहीं बनता है, किन्तु रोग की पहचान के बाद जो रोग-मुक्ति का उपाय भी बतलाता है, वही डॉक्टर आदरणीय बनता है।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज मृत्यु का रोग बतलाकर उससे

---

१. प्रशमरति गाथा १२६।

मुक्ति का उपाय भी बतला रहे हैं। इस रोग और रोग के इलाज को बतलाकर पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने महान् उपकार किया है। इस शान्त सुधारस का जो अमीपान करेगा, इसे आत्मसात् करने का प्रयास करेगा वह अवश्य ही अल्प भवों में शिव-सुख का भोक्ता बन जाएगा।

अमृत वही है, जो व्यक्ति को अमृत (अमर) बनाता है। शान्त सुधारस एक ऐसा ही अमृत है, जिसके पान से आत्मा अमरत्व को प्राप्त कर सकती है।

आप भी यह अमृतपान करें और अमरत्व को प्राप्त हों।

A stable mind

He who is unattached to everything and meeting with good and evil, neither rejoices nor recoils, his mind is stable.

3

संसार भावना

इतो लोभः क्षोभं जनयति दुरन्तो दव इवो-
ल्लसंल्लाभाम्भोभिः कथमपि न शक्यः शमयितुम् ।
इतस्तृष्णाऽक्षाणां तुदति मृगतृष्णेव विफला ,
कथं स्वस्थैः स्थेयं विविधभयभीमे भववने ।। ३२ ।।
(शिखरिणी)

अर्थ—एक ओर लोभ का भयंकर दावानल सुलगा हुआ है, जिसे बढ़ते हुए जलरूपी लाभ से किसी भी तरह से शान्त नहीं किया जा सकता है तथा दूसरी ओर इन्द्रियों की तृष्णा मृगतृष्णा की भाँति परेशान कर रही है। इस प्रकार विविध प्रकार के भयों से भयंकर इस संसार रूपी वन में स्वस्थ कैसे रहा जा सकता है ? ।। ३२ ।।

विवेचन

लोभ और तृष्णा का आतंक

संसार एक नाटक की रंग-भूमि है, जहाँ जीवात्मा कर्म के नेतृत्व में विविध प्रकार के पात्र भजती है। कभी आत्मा मानव के रूप में जन्म लेती है तो कभी पशु के रूप में। एक ही आत्मा

कभी पुरुष-देह को धारण करती है तो कभी स्त्री-देह को। आत्मा स्वयं न पुरुष है, न स्त्री। स्त्री-पुरुष का भेद कर्मकृत है। आत्मा न देव है, न मनुष्य और न नारक या तिर्यंच। किन्तु कर्म के अनुसार वह विविध देहों को धारण करती है और नाना प्रकार के दुःखों की भोक्ता बनती है।

प्रस्तुत संसार-भावना के अन्तर्गत पूज्य उपाध्यायजी महाराज संसार का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत कर रहे हैं।

दावानल के सन्दर्भ में आपने सुना ही होगा। जब जंगल में भयंकर आग सुलग जाती है, तब उसे किसी भी प्रकार से शान्त करना अशक्य हो जाता है। इस दावानल में चारों ओर से आग की इतनी अधिक प्रबलता होती है कि वन के सभी विराट्काय वृक्ष भी जलकर भस्मसात् हो जाते हैं। दावानल के सुलगने के बाद किसी भी प्राणी का उसमें से बचना अशक्य हो जाता है। दावानल की लपटों में जीवात्मा अपने जीवन को स्वाहा कर देता है। इस भयंकर दावानल को जल के छिड़काव से शान्त नहीं किया जा सकता है।

बस! वन में दावानल की भाँति ही इस संसार में लोभ का दावानल सुलगा हुआ है। इस लोभ ने सम्पूर्ण संसार में असन्तोष की आग फैला दी है, जिसे किसी भी प्रकार से शान्त करना शक्य नहीं है। कितना ही धन मिल जाए....कितनी ही समृद्धि मिल जाए....कितना ही वैभव मिल जाए....कितनी ही सुविधाएँ मिल जाएँ, परन्तु लोभ के वशीभूत आत्मा कभी तृप्त होती ही नहीं है। इस लोभ की आग ने सबको बेचैन बना दिया है और आश्चर्य है कि इस लोभ के दावानल को शान्त

करने के लिए ज्यों-ज्यों इच्छा-पूर्ति होती जाती है, त्यों-त्यों इस लोभ की आग बढ़ती ही जाती है।

• मम्मण सेठ के पास इतना अधिक धन था कि जिसके आगे श्रेणिक की समृद्धि भी नगण्य थी। परन्तु मम्मण लोभ की आग में डूबा हुआ था। जिस प्रकार खुजली का रोगी ज्यों-ज्यों खुजलाता है, त्यों-त्यों शान्ति के बजाय उसकी खाज बढ़ती ही जाती है, इसी प्रकार मम्मण के पास इतनी अधिक समृद्धि होते हुए भी वह सदा अतृप्त ही था। अधिकाधिक धन-समृद्धि को पाने के लिए वह तनतोड़ मेहनत करता था।

अमावस्या की घनघोर रात्रि में भयंकर मुसलाधार वर्षा हो रही थी। चारों ओर नगर में पानी छाया हुआ था और नदियों में भयंकर बाढ़ आई हुई थी। राजमार्ग पर न तो कोई मनुष्य ही दिखाई दे रहा था और न ही कोई पशु। परन्तु ऐसी भीषण बाढ़ में भी एकमात्र पुरुषार्थ करने वाला था तो एक मम्मण सेठ। एकमात्र लंगोटी पहनकर वह उस नदी की बाढ़ में कूद पड़ा था और नदी में बहती हुई लकड़ियों को खींच-खींचकर किनारे पर ला रहा था। कैसी दयनीय स्थिति थी? वह मौत से खेल रहा था। परन्तु उसको उसी में आनन्द था, क्योंकि लोभ ने उसके हृदय पर अधिकार जमा रखा था। लोभ की बढ़ती हुई आग को शान्त करने के लिए वह सतत पुरुषार्थ कर रहा था, परन्तु उसे यह ख्याल नहीं कि 'लाभ से लोभ का शमन कभी सम्भव नहीं है।' वस्तु की प्राप्ति से तो उलटा लोभ प्रबलतर होता है।

• याद आ जाती है उस लोभी फूलचन्द सेठ की बात।

सेठजी का अधिकांश व्यापार विदेशों में होता था। अनेक बार उन्हें समुद्री यात्राएँ करनी पड़ती थीं।

एक बार उनके किसी मित्र ने कहा—"सेठजी! आपको अनेक बार समुद्री यात्राएँ करनी पड़ती हैं। समुद्री यात्रा कभी-कभी अत्यन्त आपत्ति का कारण बन सकती है। समुद्र में कई बार तूफान भी आते हैं, अतः अपने जीवन की सुरक्षा के लिए कम से कम आप तैरना तो सीख लीजिए।"

सेठ ने कहा—"तुम्हारी बात तो ठीक है, किन्तु मुझे फुर्सत कहाँ है कि मैं तैरना सीख सकूं?"

मित्र ने कहा—"फुर्सत तो नहीं है, किन्तु जीवन तो बचाना होगा न?"

सेठ ने कहा—"कोई दूसरा उपाय बता दो।"

मित्र ने कहा—"अच्छा! तो अपनी प्रत्येक समुद्र-यात्रा में अपने साथ खाली डिब्बे ले लिया करो और जब जहाज टूट जाय तो उनके सहारे समुद्र में कूद पड़ना जिससे आप बच सकोगे।"

सेठ ने कहा—"यह अच्छी बात है।"

और सेठजी अपनी प्रत्येक यात्रा में अपने साथ खाली डिब्बे भी रखने लगे।

एक बार सेठजी विदेश से समुद्री यान के द्वारा लौट रहे थे। मध्य मार्ग में ही समुद्र में तूफान आया और जहाज डगमगाने लगा।

कप्तान ने कहा—"अब परिस्थिति विकट है, जहाज को बचाना अशक्य है, जिसे तैरना आता हो, तैरकर अपनी जान बचा ले।"

सेठजी ने यह बात सुनी। खाली डिब्बे पास में ही पड़े थे। साथ ही विदेश से लौट रहे थे अतः सोने के सिक्के भी बड़ी संख्या में साथ ही थे।

सेठ ने सोचा—"खाली डिब्बों को लेकर कूदना, इसके बजाय इनमें सोना मोहर भर लूं, तो कितना अच्छा होगा? मैं भी बच जाऊंगा और सार-सार भी बच जाएगा।"

तत्काल सेठजी ने एक डिब्बे में चार सौ सोना मोहर भर ली और उसे उठाकर समुद्र में कूद पड़े।

सेठजी तैरना तो जानते नहीं थे। बेचारे समुद्र के गहन तल में जा पहुँचे; लोभ ने उनके प्राण ले लिए।

लोभी व्यक्ति की अधिकांशतः यही स्थिति होती है। वह कभी तृप्त होता ही नहीं है।

• एक नगर के महाराजा का यह नियम था कि प्रातःकाल में उसके द्वार पर जो कोई भी याचक आवे उसे वह मुँह मांगा दान देता था। इस प्रकार दान के प्रवाह व प्रभाव से उसकी कीर्ति दिग् दिगन्त तक फैल गई।

एक दिन उसके द्वार पर एक संन्यासी आया। राजा ने कहा—"बाबाजी! फरमाइये। आपको मैं क्या दूँ?"

संन्यासी ने कहा—"बस ! मेरा यह छोटा सा पात्र सोना मोहर से भर दो।"

सुनते ही राजा ने खजांची को आदेश दिया। तत्काल खजांची एक थाल भर कर सोना मोहर ले आया और उसने वे मोहरें संन्यासी के पात्र में उंडेल दी, परन्तु आश्चर्य ! संन्यासी का पात्र खाली ही था। मुश्किल से उस पात्र का पेंदा ही ढक पाया था।

राजा की सूचना से पुनः खजांची सोना मोहर ले आया। पुनः उस पात्र में उंडेल दी····फिर आश्चर्य····! पात्र खाली ही था। इस तरह बारम्बार की इस प्रक्रिया के बावजूद भी जब उस संन्यासी का पात्र भरा नहीं गया, तब महाराजा ने आश्चर्यचकित होकर संन्यासी को कहा—"बाबाजी ! आज तक मैंने सभी याचकों की इच्छाएँ पूर्ण की हैं। परन्तु माफ करें, मैं आपके इस मनोरथ को पूर्ण नहीं कर सकता। क्या आप कृपया यह बतायेंगे कि आपका यह पात्र किस वस्तु से बना हुआ है ?

संन्यासी ने कहा—"राजन् ! यह तो सबसे अजीब पात्र है। यह न तो सोने का बना हुआ है····न चांदी का। यह एक लोभी इन्सान की खोपड़ी से बना खप्पर है, इसमें कितना ही डालो, सबको अपने में समा लेगा। यह पात्र कभी भरता ही नहीं है।"

सुनते ही महाराजा चकित हो गए। यह हालत है मानव के लोभ की। कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने 'योगशास्त्र' में कहा है—

आकरः सर्वदोषाणा, गुणग्रसन-राक्षसः।
कन्दो व्यसनवल्लीनां, लोभः सर्वार्थबाधकः॥

अर्थ—"लोभ तो सर्व दोषों की खान है, गुण का ग्रास करने वाला राक्षस है, सर्व आपत्तियों का मूल और सर्व सिद्धियों में बाधक है।"

इस प्रकार इस संसार में एक ओर लोभ के भयंकर दावानल को शान्त करने की सबसे बड़ी समस्या है तो दूसरी ओर इन्द्रियों की अनुकूल तृष्णा भी जीवात्मा को सतत परेशान कर रही है।

आँख को रूप-दर्शन में तृप्ति नहीं है। कितनी ही रूप-रमणियों के रूप का पान कर लिया, फिर भी जब नई रूप-रमणी पास से गुजरती है तो वह उसके भी रूप में मुग्ध बन जाता है। पेट की भूख तो भोजन से शान्त हो जाती है, किन्तु रूप-दर्शन की तृष्णा कभी तृप्त होती ही नहीं है।

कान को मधुर संगीत के श्रवण से तृप्ति नहीं। रसना को मधुर स्वादिष्ट भोजन से तृप्ति नहीं।

इस प्रकार सभी इन्द्रियाँ अनुकूल विषय की प्राप्ति होने पर भी सदा अतृप्त ही रहती हैं। अतृप्त इन्द्रियाँ नये-नये इष्ट-विषयों को पाने के लिए प्रयत्नशील बनती हैं। कदाचित् इष्ट-विषय मिल भी जाएं तो भी वह तृप्त नहीं बनती है, बल्कि उसकी तृष्णा अधिक तीव्र बनती है।

इस प्रकार इस संसार में एक ओर आत्मा लोभ से परेशान है तो दूसरी ओर तृष्णा से। इस प्रकार लोभ और तृष्णा के

निरन्तर आतंक के कारण आत्मा क्षण भर भी सुख और शान्ति का आस्वादन नहीं कर पाती है। □

गलत्येका चिन्ता भवति पुनरन्या तदधिका,
मनोवाक्कायेहाविकृतिरतिरोषात्तरजसः ।
विपद्गर्तावर्ते झटिति पतयालोः प्रतिपदं,
न जन्तोः संसारे भवति कथमप्यंतविरतिः ।। ३३ ।।
(शिखरिणी)

अर्थ—मन, वचन और काया की इच्छाओं के विकार से जीवात्मा राग-द्वेष कर कर्म रूपी रज को ग्रहण करती है, उसकी एक चिन्ता दूर होती है, तो उससे बढ़कर दूसरी नई चिन्ता खड़ी हो जाती है। प्रतिपल विपत्ति के गर्त के आवर्त में पड़ने के स्वभाव वाले इस प्राणी के लिए इस संसार में किसी भी प्रकार से आपत्ति का अन्त कैसे हो सकता है? ।। ३३ ।।

विवेचन

चिन्ताग्रस्त स्थिति

इस संसार में अपनी आत्मा अनन्त काल तक निगोद में रही है। जहाँ मात्र एक ही इन्द्रिय होती है। एकेन्द्रिय अवस्था में जीव के पास न तो वाणी होती है और न ही सोचने की शक्ति। फिर क्रमशः अकामनिर्जरा व भवितव्यता के फलस्वरूप आत्मा को बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय-चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय अवस्था की प्राप्ति होती है। पंचेन्द्रिय अवस्था में भी अपनी आत्मा बहुत बार पशु अवस्था में रही। वहाँ उसे चेतन मन मिला। कभी-कभी उसे मानव और देव भव की प्राप्ति हुई। किन्तु मानव और देव के

भव में भी क्या किया ? मात्र दुर्लभता से प्राप्त मन, वचन और काया की शक्ति का दुरुपयोग ही ।

दुर्लभ मन भी सदा विषय की वासनाओं से ही ग्रस्त बना रहा । कभी धन की वासना जाग उठी, तो कभी पुत्र की वासना, तो कभी भोग की वासना । वासना के जाल में यह मन सदा ग्रस्त बना रहा ।

उस महान् कवि ने प्रभु के आगे अपनी वास्तविक स्थिति दर्शाते हुए ठीक ही कहा है—

मैं दान तो दीधुं नहि, ने शीयल पण पाल्यु नहि ।
तप थी दमी काया नहि, शुभ भाव पण भाव्यो नहि ।।

वास्तव में, यही अपना भूतकाल रहा है । मन मिला तो वासनाओं का ही निरन्तर चिन्तन किया । तन मिला तो वासनाओं की तुष्टि का ही प्रयास किया । वचन मिला तो विलासितापूर्ण ही वचनप्रयोग किये और इन सबका परिणाम ? निरन्तर क्लिष्टकर्मों का बंध ।

इस प्रकार निरन्तर दुष्कर्मों के आसेवन से आत्मा पतन के स्वभाव वाली बन गयी है । पतन-अभिमुख आत्मा को इस संसार में क्षण भर के लिए भी शान्ति कहाँ है ? उसकी दौड़ सतत चालू है ।

संसार-सुख को पाने की तीव्र लालसा के कारण वह सतत चिन्तातुर रहती है । उसकी एक इच्छा की पूर्ति की चिन्ता समाप्त भी नहीं हो पाती है तब तक उसे अन्य चिन्ताएँ लागू पड़ जाती हैं ।

धन की चिन्ता हुई और धन के लिए पुरुषार्थ प्रारम्भ किया। धन को कुछ प्राप्ति हो, तब तक पुत्र की बीमारी की अन्य समस्या खड़ी हो जाती है। पुत्र के स्वास्थ्य के लिए वह दौड़-धूप करता है, वह कुछ ठीक होता है, तब तक तो माँ की मृत्यु के कर्णकटु समाचार उसे सुनने पड़ते हैं और उस शोक में वह डूब जाता है। सतत चिंताओं से ग्रस्त होने के कारण वह जीवित ही जलता रहता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

चिंता चिता से बढ़कर है, घुन लग जाती है।
चिता मुर्दे को जलाती है, चिंता जीते जी खाती है।।

इस प्रकार दुःख के आवर्त में गिरने के स्वभाव वाले इस प्राणी को इस संसार में क्षण भर के लिए भी शान्ति कहाँ से मिल सकती है? □

सहित्वा सन्तापानशुचिजननीकुक्षिकुहरे ,
ततो जन्म प्राप्य प्रचुरतरकष्टक्रमहतः।
सुखाभासैर्यावत् स्पृशति कथमप्यंतविरतिं ,
जरा तावत्कायं कवलयति मृत्योः सहचरी।। ३४ ।।
(शिखरिणी)

अर्थ—जीव गन्दगी से भरपूर माँ की कुक्षि रूपी गुफा में सन्तापों को सहन कर जन्म प्राप्त करता है और उसके बाद अनेक प्रकार के महान् कष्टों की परम्परा को प्राप्त करता है, किसी प्रकार से सुखाभासों से जब दुःख से विराम पाता है, तब मृत्यु की सहचरी जरावस्था उसके देह को खाने लग जाती है।। ३४ ।।

विवेचन

संसार में दुःख की सतत परम्परा है

इस संसार के भयंकर कारावास में सुख का क्षण भी कहाँ है ?

इस प्राणी को नरक और निगोद में तो सतत पीड़ा ही पीड़ा है। निगोद में बारम्बार जन्म और मृत्यु की भयंकर पीड़ा। एक दो घड़ी में तो निगोद जीव के ६५५३६ भव हो जाते हैं। अव्यक्त दशा में आत्मा इन सब दुःखों को सहन करती है।

नरक में व्यक्त रूप से भयंकर वेदना का अनुभव करती है। जन्म भी कुम्भीपाक में। कुम्भीपाक से बाहर निकलने में भयंकर त्रास। तत्पश्चात् परमाधामियों के द्वारा सतत सजा। परमाधामी, नरकजीवों को सतत काटते हैं, भाले से भोंकते हैं, चीरते हैं और नाना प्रकार की पीड़ाएँ देते हैं। नरक में क्षेत्रकृत वेदना भी कम नहीं है। अत्यन्त दुर्गन्धमय, अत्यन्त उष्ण और प्रतिकूल क्षेत्र में नरक का जीव सतत दुःख भोगता रहता है।

नरक के जीवों को परस्परकृत वेदना भी भयंकर होती है। नरक में रहे मिथ्यादृष्टि जीवों को विभंग ज्ञान होता है, परन्तु उस ज्ञान का उपयोग वे अपने शत्रु को पहचानने में करते हैं और शत्रु को पहचान कर परस्पर सतत लड़ते रहते हैं।

तिर्यंच भव में भी आत्मशांति का क्षण कहाँ है ? भूख और प्यास से पशु-पक्षी सदा पीड़ित रहते हैं। भूख के साथ उन्हें पराधीनता भी सहन करनी पड़ती है।

इस प्रकार निगोद, नरक व पंचेन्द्रिय तिर्यंच के दुःखों का विचार किया। तो क्या मानव इन दुःखों से मुक्त है ?

नहीं। मानव भी दुःख की आग में सतत ही जल रहा है।

मानव को 'मानव' के रूप में जन्म लेने के लिए भी तो नौ-नौ मास की भयंकर गर्भावास पीड़ा सहन करनी पड़ती है।

थोड़ी सी दुर्गंध, थोड़ी सी प्रतिकूल हवा से आकुल-व्याकुल बन जाने वाला अहंकारी मानव यह क्यों भूल जाता है कि उसने इस जन्म को पाने के लिए नौ मास तक अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त गर्भ के कारावास की सजा सहन की है।

शास्त्र में कहा है कि कोई दुष्ट देव अपने शरीर के ३½ करोड़ रोंगटों में एक साथ लोहे की तपी हुई सुइयाँ भोंके, उससे आठ गुनी पीड़ा गर्भावस्था में होती है और उससे अनन्तगुनी पीड़ा जन्म के समय होती है।

क्या माँ के गर्भ में वातानुकूलन था ? क्या माँ के गर्भ में सुगन्धित फूलों की महक थी ? क्या माँ के गर्भ में मखमल के गद्दे थे ? कैसी भयंकर सजा थी वह ? फिर भी अभिमानी मानव उस भूतकालीन इतिहास को भूल जाता है और छोटी-छोटी बातों के लिए अहंकार-ग्रस्त हो जाता है।

जन्म के साथ भी मानव प्राणी की क्या हालत है ?

क्या जन्मप्राप्त मानव-शिशु और पशु के बच्चे में विशेष अन्तर होता है ?

हाँ। पूँछ का अन्तर जरूर है, किन्तु अज्ञान - चेष्टाएँ तो दोनों की प्रायः समान ही होती हैं।

फिर मानव प्राणी कुछ बड़ा होता है। कुछ पढ़ता है, सीखता है और अहंकार से ग्रस्त हो जाता है। कुछ धन और समृद्धि मिल गई तो भी वह शान्त नहीं होता है। अन्दर से वह उछलता रहता है और इस प्रकार वह अपनी शान्ति खो देता है।

मानव प्राणी जन्म के समय दुःखी, बचपन में दुःखी और फिर यौवन के प्रांगण में प्रवेश कर कुछ पाने की....कुछ नवीन करने की धुन में लग जाता है। ज्योंही कुछ सुख की सामग्री पाकर उसे भोगने की तैयारी करता है, तब तक तो बुढ़ापा उसकी इंतजारी करता हुआ अत्यन्त निकट आ जाता है और उसे घेर लेता है।

खाने को मिष्टान्न मिल रहे हैं, किन्तु पचाने की शक्ति क्षीण हो गई है। देखने के लिए टी.वी. के प्रोग्राम हैं, किन्तु आँखों की ज्योति समाप्त हो गई है। Hill Station पर घूमने का प्रोग्राम बना है, किन्तु पैर लड़खड़ा रहे हैं।

इस प्रकार सुख-भोग की अनुकूलता के समय ही उसकी स्थिति दयनीय बन जाती है। जरावस्था तो मृत्यु की सहचरी है। □

विभ्रान्तचित्तो बत बम्भ्रमीति,
पक्षीव रुद्धस्तनुपञ्जरेऽङ्गी।
नुन्नो नियत्याऽतनुकर्मतन्तु-
सन्दानितः सन्निहितान्तकौतुः ॥ ३५ ॥

(उपजाति)

अर्थ—मोह से मूढ़ चित्त वाला यह प्राणी इधर-उधर भटकता रहता है। नियति से प्रेरित और कर्म के तन्तुओं से बँधा हुआ यह प्राणी शरीर रूपी पिंजरे में पक्षी की भाँति पड़ा हुआ है, जिसके निकट में ही कृतान्त (यम) रूपी बिलाड रहा हुआ है ॥ ३५ ॥

विवेचन

देह-पिञ्जरग्रस्त प्राणी

पूज्य उपाध्यायजी म. एक रूपक के द्वारा संसारी जीव की वास्तविक स्थिति का प्रदर्शन करते हुए फरमाते हैं कि एक पिंजरे में जब पक्षी को बन्द किया जाता है, तब वह अत्यन्त परेशान हो जाता है, परन्तु धीरे-धीरे वह पक्षी उस पिंजरे का आदी बन जाता है। फिर वह अपनी वास्तविक स्वतन्त्रता को भूल जाता है।

• याद आती है एक पोपट की कहानी। पिंजरे में बन्द उस पोपट को किसी ने सिखाया—'स्वतंत्रता में आनन्द है....स्वतंत्रता में आनन्द है।' और वह पोपट धीरे-धीरे उस वाक्य को याद कर लेता है और प्रतिदिन उस वाक्य को बोलता है।

एक दिन किसी आगन्तुक व्यक्ति ने पोपट के मुख से यह बात सुनी। उसने सोचा—यह पक्षी वास्तव में स्वतंत्रता चाहता है, अतः उसने पिंजरे का द्वार खोल दिया और उस पोपट को बाहर निकाल दिया....परन्तु उस आगन्तुक ने एक आश्चर्य देखा—पोपट उड़कर दरवाजे पर बैठा और थोड़ी ही देर में पुनः उस पिंजरे में घुस गया।

बस, स्वतन्त्रता....स्वतन्त्रता की पुकार सब करते हैं,

किन्तु वास्तविक स्वतंत्र बनना कौन चाहता है? वासनाओं की गुलामी से मुक्त बनने के लिए प्रयास कहाँ है?

और इसी कारण वासनाओं की गुलामी से आत्मा कर्म-तन्तुओं का सर्जन कर उसके जाल में फँस जाती है। उस जाल के बाहर ही यमराज रूप बिलाड़ रहा हुआ है। यह जीवात्मा रूप पक्षी ज्योंही उस जाल में से बाहर निकलने की कोशिश करता है, तत्क्षण यमराज उसे ग्रस्त कर देता है और भवितव्यता पुनः आत्मा को एक नये पिंजरे में डाल देती है। इस प्रकार भवितव्यता-नियति के वशीभूत बनी आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में जाती रहती है।

देहरूप जाल में प्रतिबद्ध होने पर भी आत्मा को स्वबन्धन की वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता है और चित्त की भ्रंशता के कारण वह इधर-उधर भटकती है। □

अनन्तान्पुद्गलावर्ताननन्तानन्तरूपभृत् ।
अनन्तशो भ्रमत्येव जीवोऽनादिभवार्णवे ।। ३६ ।।
(अनुष्टुप्)

अर्थ——यह जीवात्मा इस अनादि भवसागर में अनन्त-अनन्त रूपों को धारण कर अनन्त-अनन्त पुद्गलपरावर्त तक भटकता रहता है।। ३६ ।।

विवेचन

भवभ्रमण करते अनन्तकाल बीत चुका है

किसी आत्मा ने सर्वज्ञ परमात्मा से पूछा—"प्रभो! इस संसार में मैं कब से भ्रमण कर रहा हूँ?"

प्रभु ने कहा—"अनादिकाल से।"

"तो प्रभो! आज तक मेरे कितने भव हुए?"

प्रभु ने कहा—"अनन्तानन्त।"

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भी जीवात्मा के संसार-परिभ्रमण की आदि नहीं बता सकते हैं।

अपनी आत्मा का अनन्तकाल निगोद में व्यतीत हुआ है। निगोद से बाहर निकलने के बाद भी अपनी आत्मा के जितने भव हुए हैं, उन सबका कथन सर्वज्ञ परमात्मा भी नहीं कर सकते हैं। कल्पना करें, किसी सर्वज्ञ भगवन्त के हजार मुख हों, उनका हजार वर्ष का आयुष्य हो और प्रति सैकण्ड अपना एक भव बतलावें और वे जीवन पर्यन्त कहते ही रहें तो भी वे हमारे भवों का वर्णन नहीं कर सकते हैं। हजार मुख वाले हजारों केवली भी अपने समस्त भवों का वाणी से कथन करने में असमर्थ हैं। इस प्रकार इस संसार में प्रत्येक जीवात्मा ने अनन्तानन्त भव किए हैं।

एक पुद्गलपरावर्तकाल अर्थात् अनन्तकालचक्र। जब जीवात्मा चोदह राजलोक में रहे समस्त पुद्गलों को (आहारक वर्गणा के पुद्गलों को छोड़कर) औदारिक आदि वर्गणा के द्वारा भोग लेता है तब एक पुद्गलपरावर्तकाल होता है। इसमें अनन्त चौबीसियाँ बीत जाती हैं। ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्त-काल से आत्मा इस संसार में भ्रमण करती आ रही है।

और इस अनन्तकाल में चौदह राजलोक में एक भी ऐसा आकाशप्रदेश नहीं बचा है, जहाँ अपनी आत्मा ने जन्म और मृत्यु के द्वारा स्पर्श नहीं किया हो।

इस अनन्तकाल में अपनी आत्मा ने अनन्त रूपों को धारण किया है। कोई ऐसा जन्म नहीं, कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, कोई ऐसी जाति नहीं, कोई ऐसा देश नहीं, कोई ऐसी योनि नहीं जहाँ अपनी आत्मा ने जन्म नहीं लिया हो।

ओह! अफसोस है कि अनन्तकाल से अपनी आत्मा संसार-सागर की भँवर में फँसी हुई है, फिर भी उससे मुक्त बनने के लिए लेश भी प्रयत्न नहीं करती है। □

Look With Equality

Look upon others as you would on yourself, if happiness be your goal; for others feel the same amount of pleasure or pain as you do.

तृतीयभावनाष्टकम्

(गीतम्)

कलय संसारमतिदारुणं,
जन्म-मरणादिभयभीत रे।
मोहरिपुणेह सगलग्रहं,
प्रतिपदं विपदमुपनीत रे ।। कलय० ३७ ।।

अर्थ—जन्म-मरण आदि के भय से भयभीत बने हे प्राणी ! तू इस संसार की अतिभयंकरता को समझ ले, मोह रूपी शत्रु ने तुझे गले से बराबर पकड़ लिया है और वह हर कदम पर तुझे आपत्ति में डाल रहा है ।। ३७ ।।

विवेचन

मोह की विडम्बना से भरा संसार

संसार-भावना के अन्तर्गत संसार के वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराया गया है। इस संसार का बाह्य दिखावा-आडम्बर तो बहुत चित्ताकर्षक है, किन्तु भीतर से यह अति भयंकर है। यह संसार भी उन्हीं को अच्छा लगता है, जो मोह के नशे में हैं। वे शत्रु स्वरूप मोह को भी मित्र समझ बैठे हैं।

• सुना है कि एक किसान के पशु हरी घास को खाने के इतने आदी हो गए थे कि यदि कोई उन्हें शुष्क घास डालता तो वे उस ओर मुँह भी नहीं करते।

एक बार उस नगर में भयंकर दुष्काल पड़ा। उस किसान के पास हरे घास की तंगी हो गई। अपने पशुओं को बचाने के लिए उसने कुछ सूखा घास खरीद लिया और पशुओं को डाला। किन्तु किसी ने उसमें अपना मुँह नहीं डाला। मालिक को आश्चर्य हुआ—यह क्या बात है? कोई घास नहीं खा रहा है। अन्त में किसी मित्र ने सलाह दी कि ये हरी घास को खाने के आदी हो गए हैं, अतः ये सूखी घास की ओर नजर भी नहीं कर रहे हैं। अतः इनकी आँखों पर हरे रंग के काच बँधवा दो, फिर देखो इसका कमाल।

किसान ने वैसा ही किया और तत्काल वे पशु उस सूखी घास पर टूट पड़े।

बस! यही हालत है इस संसार में संसारी जीवात्मा की। मोह के नशे के कारण उसे इस संसार की भयानकता समझ में ही नहीं आती है।

सम्पूर्ण विश्व के समस्त प्राणियों पर मोहराजा एकछत्र राज्य करना चाहता है। एकमात्र धर्मराजा तीर्थंकर परमात्मा की शरण में गए प्राणियों पर ही उसका कोई अधिकार नहीं चलता है। शेष प्राणियों को तो वह नाना प्रकार से परेशान करता रहता है। उसने जीवात्मा को गले से ही पकड़ लिया है और वह जीवात्मा को जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक आदि नाना प्रकार की पीड़ाएँ देता रहता है।

जीवात्मा को जन्म की पीड़ा पसन्द नहीं है।

जीवात्मा को मृत्यु का दुःख नापसन्द है।

जीवात्मा को वृद्धावस्था की वेदनाएँ प्रिय नहीं हैं। वह सुख चाहता है और दुःख से मुक्त बनना चाहता है। परन्तु वह ससार से मुक्त बनना नहीं चाहता है।

पूज्य उपाध्यायजी म. हमें सम्यग्बोध देते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम इस संसार की भयंकरता को समझ लो। यह संसार नाना प्रकार की यातनाओं का घर है। वास्तविक सुख तो मुक्ति में ही है। अतः इस मोह के नशे का त्याग कर दो। □

स्वजनतनयादिपरिचयगुणै-
रिह मुधा बध्यसे मूढ रे।
प्रतिपदं नवनवैरनुभवैः,
परिभवैरसकृदुपगूढ रे ।। कलय० ३८ ।।

अर्थ—हे मूढ़! स्वजन तथा पुत्र आदि की परिचय रूपी डोरी से तू व्यर्थ ही अपने आपको बाँध रहा है। तू कदम-कदम पर नये-नये अनुभवों के द्वारा अनेक प्रकार के पराभवों से घिरा हुआ है ।। ३८ ।।

विवेचन

स्वजन का प्रेम झूठा है

स्वजन अर्थात् आत्मीयजन। सच्चा स्वजन तो वह है

जो अपनी आत्मा का हित करे, बाकी तो सब परजन ही हैं। परन्तु मोह के नशे में आत्मा स्वजन-परजन की इस सच्ची व्याख्या को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो पाती है, वह तो देह के सम्बन्धियों को ही स्वजन स्वीकारने के लिए तैयार है। आत्मा का निरन्तर हित चाहने व करने वाले देव-गुरु और धर्म को वह सच्चा स्वजन मानने के लिए तैयार ही नहीं है। इसी कारण दुनिया में हम देखते हैं कि स्वसन्तान व स्वकुटुम्ब के लिए लाखों रुपये खर्च करने वाले भी देव-गुरु और धर्म के लिए एक रुपया भी प्रेम से खर्च करने के लिए तैयार नहीं हो पाते हैं। धर्म में खर्च आते ही वे अपना मुँह मोड़ लेते हैं। ऐसा क्यों? इसका कारण यही है कि धर्म के प्रति उनके हृदय में आत्मीय सम्बन्ध नहीं हो पाया है।

स्वजन-पुत्र परिवार के मोह में व्यक्ति इतना अन्धा हो जाता है कि वह भावी का विचार ही भूल जाता है। कवि ने ठीक ही कहा है—

पूत कपूत तो क्यों धन-संचय?
पूत सपूत तो क्यों धन संचय?

सन्तान यदि कपूत है तो उसके लिए धन का सचय करना मूर्खता ही है। वह तो पिता के धन को भी विनाश के मार्ग में नष्ट कर देगा और सन्तान यदि सपूत है तो उसके लिए भी धन का संचय करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सपूत सन्तान ही तो सच्चा धन है। पुत्र यदि सपूत है तो वह अपनी सज्जनता के बल से अपना गुजारा आसानी से चला सकेगा और वह अपने पिता की भी सेवा अदा करेगा।

परन्तु मोह से मूढ़ बनी आत्मा की तो बात ही कुछ और है। जीवन-यापन के लिए पर्याप्त धन होते हुए भी वह 'हाय' 'हाय' करता रहेगा और अन्याय-अनीति से किसी भी तरह धन के संग्रह का प्रयास जारी रखेगा।

स्वजन, पुत्र, परिवार की तीव्र आसक्ति के परिणामस्वरूप जीवात्मा को क्या मिलता है? एकमात्र तिरस्कार व अपमान के कटु अनुभव ही।

श्रेणिक महाराजा के हृदय में अपनी बाल सन्तान कोणिक के प्रति कितना अधिक प्रेम था? लेकिन उसे बदले में क्या मिला? एकमात्र भयंकर कारावास की सजा ही न!

समरादित्य-चरित्र में पिता सिंह महाराजा और पुत्र आनन्दकुमार की बात आती है। आनन्द के जन्म के बाद उसकी माँ उसे मार डालना चाहती थी, परन्तु सिंह महाराजा ने उसे बचा दिया था। तत्पश्चात् पिता ने पुत्र को प्रेम दिया....स्नेह दिया और अन्त में राज्य देने के लिए तैयार हो गया। परन्तु पुत्र ने बदले में क्या दिया? अति भयंकर कारावास की सजा और अन्त में मौत ही न!

इस संसार में समस्त रिश्ते-नाते स्वार्थ से भरे हुए हैं। पुत्र भी पिता को तभी तक प्रेम करता है, जब तक उसकी शादी न हो जाय अथवा उसे पिता से धन पाने की आशा है। ज्योंही उसकी यह आशा टूट जाती है, त्योंही उसका प्रेम समाप्त हो जाता है।

जब तक पिता युवान होते हैं, तब तक उसकी सन्तान भी उससे

प्रेम करती है, उसकी आज्ञा मानती है, परन्तु ज्योंही पिता भयंकर रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं अथवा वृद्धावस्था से कमजोर बन जाते हैं, तब वे ही पुत्र उस पर हुकूमत चलाते हैं और उस बूढ़े को पुत्र के इशारों पर चलना पड़ता है।

राज्य की लिप्सा से औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ को कैद करवा दिया था।

संसार के सम्बन्ध स्वार्थ से भरे हैं। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए भाई, भाई की हत्या के लिए; पति, पत्नी की हत्या के लिए; और पुत्र, पिता की हत्या के लिए भी तैयार होते देखे गए हैं। □

घटयसि क्वचन मदमुन्नतेः,
क्वचिदहो हीनतादीन रे।
प्रतिभवं रूपमपरापरं,
वहसि बत कर्मणाधीन रे॥ कलय० ३९॥

अर्थ—तू कभी-कभी उन्नति के अभिमान की कल्पना करता है तो कभी हीनता के विचारों से दीन बन जाता है। कर्म की पराधीनता से हर भव में नये-नये रूपों को धारण करता है॥ ३९॥

विवेचन

उतार-चढ़ाव से भरा संसार

इस संसार में जीवात्मा कर्मसत्ता के अधीन है। कर्म के

नियम का उल्लंघन करने की उसमें लेश भी शक्ति नहीं है। कर्म उसे जहाँ ले जाता है, उसे वहीं जाना पड़ता है। कभी चौदह राजलोक के एक कोने में एकेन्द्रिय के रूप में जन्म लेता है तो कभी दूसरे कोने में। कभी नारक बनकर परमाधामी की भयंकर यातनाओं को सहन करता है तो कभी तिर्यंच में पराधीन अवस्थाएँ प्राप्त करता है।

कभी-कभी कर्म ही उसे सुख के साधन देता है और फिर उसे दुःख के भयंकर गर्त में डाल देता है।

इस प्रकार सोचेंगे तो ख्याल में आएगा कि दुनिया में जो कुछ भी जीवों की हल्की अवस्थाएँ देखने को मिलती हैं, उन सब अवस्थाओं में से अपनी आत्मा गुजरी हुई है। ऐसी स्थिति होने के बावजूद भी थोड़े से शुभकर्म के उदय से जीवात्मा को अनुकूल सामग्रियाँ मिलती हैं, तो वह उसमें पागलसा हो जाता है। वह यह मान लेता है कि मुझे प्राप्त हुई अनुकूल सामग्री तो सदा रहने वाली है। इस भ्रम के कारण वह नाना प्रकार की कल्पनाएँ कर लेता है।

शेखचिल्ली को बात याद आ जाती है। अत्यन्त गरीबी में वह अपने दिन गुजार रहा था। उसके घर पर एक बकरी थी। एक दिन वह अपने सिर पर मिट्टी की हांडी में बकरी का दूध भरकर उसे बेचने के लिए बाजार जा रहा था। रास्ता कुछ ऊबड़-खाबड़ था। शहर का मार्ग कुछ लंबा था, अतः शेखचिल्ली विचारों में डूब गया और सोचने लगा—

"इस दूध को बेचूंगा....एक रुपया मिलेगा....बाजार से चने खरीद लूंगा और उन्हें पाठशाला के बच्चों में बेच दूंगा....फिर

मैं दूसरी बकरी खरीदूंगा, फिर धीरे-धीरे मेरे पास....५० रु. हो जाएंगे, उससे एक गाय खरीद लूंगा....जिससे अधिक दूध मिलेगा....उस दूध को रोज बेचूंगा....धीरे-धीरे मेरे पास ज्यादा गायें हो जाएंगी....फिर भैंस खरीद लूंगा....वह बहुत दूध देगी.... फिर मैं धीरे-धीरे दूध का व्यापारी बन जाऊंगा....मेरे पास काफी धन हो जाएगा....फिर अच्छी सुन्दर लड़की के साथ मेरी शादी होगी....वह मेरी बीबी मेरी आज्ञा का पालन करेगी....और यदि वह मेरी आज्ञा का पालन नहीं करेगो तो मैं उसे घर से निकाल ..।" और इस विचार-विचार में हो शेखचिल्लो को मिट्टी की हांडी को हाथ से जोरे का धक्का लग गया और उसमें रहा सारा दूध भूमि पर ढुल गया। शेखचिल्ली के सभी स्वप्न मिट्टी में मिल गए।

बस, यही स्थिति है संसारी जीवात्मा की। थोड़ा सा धन मिल गया....एक सम्राट् के स्वप्न देखने लग जाएगा। थोड़ी सी इज्जत मिल गई....विश्वपूज्य के स्वप्न देखने लग जाएगा।

और कहीं से थोड़ा सा अपमान मिल गया अथवा व्यापार में थोड़ा सा घाटा हो गया तो वह अत्यन्त दीन-हीन बन जाएगा और ऐसी कल्पनाएँ करेगा मानों पूरी दुनिया खराब है, कोई अच्छा व्यक्ति नहीं है।

लेकिन मनुष्य कर्म-सत्ता का विचार करे तो वह सुख में लीनता और दुःख में दीनता की बुरी हालत से बच सकता है। परन्तु मोह के नशे में चकचूर बने मानव के लिए यह सोचने का अवकाश ही कहाँ है? यदि इस प्रकार सोचने लगे तो वह अवश्य ही धीरे-धीरे कर्म-जाल से छूट सकता है। □

जातु शैशवदशापरवशो ,
जातु तारुण्यमदमत्त रे ।
जातु दुर्जयजराजर्जरो ,
जातु पितृपतिकरायत्त रे ।। कलय० ४० ।।

अर्थ—जब तू शिशु अवस्था में था, तब अत्यन्त परवश था, जब तरुण अवस्था में आया, तब मद से उन्मत्त बन गया और जब वृद्धावस्था में आया तब जरा से अत्यन्त जर्जरित बन गया और अन्त में यमदेव के पराधीन बन गया ।। ४० ।।

विवेचन

संसार में सर्वत्र पराधीनता

इस संसार में जीवात्मा लेश भी स्वतन्त्र नहीं है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त उसे नाना प्रकार की पराधीनताओं को सहन करना पड़ता है। शिशु को भी माता-पिता के पराधीन रहना पड़ता है। खाने में पराधीनता, पीने में पराधीनता।

यौवनावस्था में भी वह स्वतन्त्र कहाँ है? यदि वह व्यापारी बनता है तो अन्य अनेक व्यापारी व ग्राहकों की पराधीनता सहन करता है। यदि वह सरकारी कर्मचारी है तो अनेक अफसरों को उसे सलाम करना पड़ता है।

यौवन में धन की चिन्ता, पुत्र-पत्नी व परिवार की चिन्ता, मकान व भोजन की चिन्ता। इस प्रकार चारों ओर समस्याओं से वह घिरा हुआ रहता है।

यौवन की समाप्ति के बाद वृद्धावस्था घेर लेती है, जो उसके देह के सम्पूर्ण सत्त्व का शोषण कर लेती है और वह अत्यन्त जर्जरित बन जाता है। जो यौवन के उन्माद में अनेक को मार डालने में समर्थ था, अब वृद्धावस्था में वह इतना कमजोर हो जाता है कि उसमें एक मक्खी को भी उड़ाने की शक्ति नहीं होती है।

कदाचित् कुछ पुण्ययोग से वृद्धावस्था में उसकी सेवा-शुश्रूषा करने वाले मिल जायें किन्तु अन्त में तो उसे कृतान्त के मुख में जाना ही पड़ता है और ज्योंही कृतान्त उसे अपनी तीक्ष्ण दाढ़ों में दबोच लेता है, उसकी हालत अत्यन्त दयनीय बन जाती है। उस हालत में उसकी पीड़ा की चीख को सुनने वाला कौन? मात्र अकेले को ही मृत्यु की भयंकर वेदना सहन करनी पड़ती है।

□

व्रजति तनयोऽपि ननु जनकतां,
तनयतां व्रजति पुनरेष रे।
भावयन्विकृतिमिति भवगते-
स्त्यज तमो नृभवशुभशेष रे॥ कलय० ४१॥

अर्थ—इस संसार में पुत्र मरकर पिता बन जाता है और वह पिता मरकर पुनः पुत्र बन जाता है। इस प्रकार इस संसारगति की विकृति (विचित्रता) का विचार करो और इसका त्याग कर दो, अभी भी तुम्हारे इस मनुष्य-जीवन का शुभ भाग बाकी है॥ ४१॥

विवेचन

संसार के सम्बन्ध विचित्रता से भरे हैं

ओह ! इस संसार की यह कितनी विचित्रता है कि पुत्र मरकर पिता बन जाता है और वही पिता मरकर पुत्र बन जाता है।

समरादित्य चरित्र में सिंह और आनन्द के भव में जो पिता-पुत्र थे, वे ही कुछ भवों के बाद पुनः पुत्र-माँ के रूप में जन्म लेते हैं।

कुबेरसेना की घटना से शायद आप परिचित ही होंगे। एक ही भव में एक ही व्यक्ति से भिन्न-भिन्न छह-छह सम्बन्ध हो जाते हैं। वह घटना इस प्रकार है—

• मथुरानगरी में कुबेरसेना नाम की एक वेश्या रहती थी। एक बार उस वेश्या ने पुत्र-पुत्री रूपी युगल को जन्म दिया। वेश्या के मालिक ने सोचा—"यदि यह अपनी सन्तान का लालन-पालन करेगी तो मुझे इससे आय कम होगी।" अतः उसने कुबेरसेना को कहा—"तू अपनी दोनों सन्तानों को पेटी में बन्द कर, उन्हें नदी में डाल दे।" वेश्या कुबेरसेना ने वह आज्ञा स्वीकार की और अपनी दोनों सन्तानों के दाहिने हाथ की अंगुली में एक-एक अँगूठी पहना दी। पुत्र की अँगूठी पर नाम था 'कुबेरदत्त' और पुत्री की अँगूठी पर नाम था 'कुबेरदत्ता'। दोनों बच्चों को पेटी में बन्द कर, वह पेटी नदी में बहा दी गई।

श्रीपुर नगर की नदी के किनारे दो वणिक् घूमने के लिए आए हुए थे। अचानक उनकी नजर नदी में बहती हुई इस पेटी

पर पड़ी। दोनों मिलकर उस पेटी को नदी किनारे लाए। पेटी को खोलकर देखा तो उसमें से दो बच्चे निकले।

दोनों वणिक् व्यापारी थे। एक के तीन लड़कियाँ थीं और एक के चार लड़के अतः लड़की वाले वणिक् ने लड़का ले लिया और लड़के वाले वणिक् ने लड़की ले ली। दोनों की इच्छाएँ पूर्ण हो गई थीं, दोनों खुश थे। दोनों ने उनका अपनी सन्तानवत् पालन किया।

धीरे-धीरे कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता बड़े हुए। यौवनावस्था में आने के बाद कुबेरदत्ता के पिता को उसके वर की चिन्ता होने लगी। अन्त में उस वणिक् ने सोचा 'कुबेरदत्त' के सिवाय इसके लिए सुयोग्य वर और कौन हो सकता है, अतः उसने अपनी पुत्री का विवाह कुबेरदत्त से करा दिया। दोनों का दाम्पत्य जीवन आनन्द से बीत रहा था। एक दिन वे दोनों चौपड़ खेल रहे थे, अचानक कुबेरदत्त की अंगुली से एक अँगूठी निकल पड़ी। कुबेरदत्ता ने नाम पढ़ा—और अपनी अँगूठी से तुलना की, दोनों समान प्रतीत हुईं। दोनों की आकृति-प्रकृति समान थी। अतः कुबेरदत्ता को कुछ लज्जा आ गई। उसने पति से अपने वास्तविक माता-पिता को जानने का आग्रह किया।

कुबेरदत्त ने अपने पिता से कहा—"पिताजी! सत्य कहो, मेरे वास्तविक माता-पिता कौन हैं?"

उस वणिक् ने कुबेरदत्त को सत्य हकीकत कह दी।

इस सत्य की जानकारी से कुबेरदत्ता लज्जाशील बन गई, उसे बड़ा आघात लगा और अन्त में उसने दीक्षा अंगीकार कर ली।

कुबेरदत्त घर पर ही रहा। व्यापारादि करने लगा। उसने

बहुत धन कमाया। एक दिन वह मथुरा जा पहुँचा और अन्त में कुबेरसेना वेश्या के यहाँ ठहर गया। कुबेरदत्त के संग से वेश्या कुबेरसेना ने एक पुत्र को जन्म दिया।

ज्ञान, ध्यान और तप की साधना से कुबेरदत्ता साध्वी को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, उसने कुबेरदत्त व कुबेरसेना की हालत देखी और करुणा से उसका हृदय भर आया। माँ व भाई को प्रतिबोध देने के लिए वह मथुरा जा पहुँची और कुबेरसेना के घर ठहरी। उसी समय कुबेरसेना का पुत्र रोने लगा, तभी कुबेरदत्ता साध्वी संगीत के माध्यम से उस बच्चे को कहने लगी—"तू तो मेरा भाई है, मेरा पुत्र है, मेरा देवर है, मेरा भतीज है, मेरा काका है और मेरा पौत्र है।"

यह सुनते ही कुबेरसेना को बड़ा आश्चर्य हुआ। साध्वीजी यह क्या बोल रही हैं? उसने इसका रहस्य पूछा तब कुबेरदत्ता साध्वी ने कहा—

(१) इसकी माता और मेरी माता एक है, अतः यह मेरा भाई है।

(२) मेरे पति कुबेरदत्त का यह पुत्र है, अतः यह मेरा पुत्र है।

(३) मेरे पति कुबेरदत्त का छोटा भाई है, अतः यह मेरा देवर है।

(४) मेरे भाई कुबेरदत्त का यह पुत्र है, अतः मेरा भतीज है।

(५) कुबेरदत्त मेरी माँ का पति और उसका यह भाई अतः मेरा काका है।

(६) और कुबेरसेना मेरी शोक्य है। कुबेरसेना का पुत्र कुबेरदत्त और उसका यह पुत्र अतः मेरा पौत्र है।

इसी प्रकार कुबेरदत्त को कहा —

(१) हम दोनों की माँ एक है, अतः तू मेरा भाई है ।

(२) मेरी माँ का पति है, अतः मेरा पिता है ।

(३) यह बालक मेरा काका और उसका तू पिता है, अतः तू मेरा दादा है ।

(४) हम दोनों का विवाह सम्बन्ध हुआ था, अतः तू मेरा पति है ।

(५) कुबेरसेना मेरी शोक्य है, और उसका तू पुत्र है, अतः मेरा भी पुत्र है ।

(६) यह बच्चा मेरा देवर है और उसका तू पिता है अतः तू मेरा श्वसुर है ।

इसी प्रकार कुबेरसेना को कहा—

(१) मुझे जन्म दिया है, अतः तू मेरी माँ है ।

(२) कुबेरदत्त मेरा पिता, उसकी तू माँ होने से मेरी दादी है ।

(३) कुबेरदत्त मेरा भाई और उसकी तू पत्नी होने से मेरी भाभी है ।

(४) मेरी शोक्य के पुत्र कुबेरदत्त की पत्नी होने से तू मेरी पुत्रवधू है ।

(५) मेरे पति कुबेरदत्त की माता होने से तू मेरी सास है ।

(६) और मेरे पति कुबेरदत्त की अन्य स्त्री होने से तू मेरी शोक्य है ।

इस प्रकार के विचित्र किन्तु वास्तविक सम्बन्धों को सुनकर सबको पश्चाताप हुआ, संसार की असारता को समझ कर सभी ने दीक्षा अंगीकार की और अपना आत्मकल्याण किया।

जब एक ही भव में इस प्रकार के विभिन्न सम्बन्ध घट सकते हैं, तब इस अनन्त भव संसार में ये भिन्न-भिन्न सम्बन्ध घट जायें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? ज्ञानियों का वचन है कि इस अनन्त संसार में सभी जीवों के साथ सभी प्रकार के सम्बन्ध हमारी आत्मा ने किए हैं, अतः किसी सम्बन्ध-विशेष का राग करना केवल मूर्खता ही है। □

यत्र दुःखार्तिगददवलवै-
रनुदिनं दह्यसे जीव रे।
हन्त तत्रैव रज्यसि चिरं,
मोहमदिरामदक्षीव रे ॥ कलय० ४२ ॥

अर्थ—मोह की मदिरा के पान से नष्टबुद्धि वाले हे जीवात्मा! खेद है कि जहाँ पर दुःख की पीड़ा के दावानल से तू निरन्तर जला है, उसी स्थान में तू दीर्घकाल से राग करता है॥ ४२ ॥

विवेचन

मोह का नशा

एक मनुष्य जो सुगन्ध से प्रेम करता है और दुर्गन्ध से घृणा करता है, परन्तु वही व्यक्ति जब शराब की बोतल चढ़ा लेता है और लड़खड़ाता हुआ गटर में गिर पड़ता है, तब उसे कीचड़

अथवा गन्दगी से लेश भी घृणा नहीं होती है, उस कीचड़ में लोटने में उसे आनन्द आता है।

बस, यही स्थिति है संसारी जीवात्मा की भी। मोह के नशे में चकचूर होने के कारण जिस स्थान से उसने पूर्व में दुःख पाया है, उसी स्थान में आसक्त बन जाता है।

उसे पता है कि एक विवाह के कारण उसे कितने कष्ट सहन करने पड़े हैं? परन्तु ज्योंही एक पत्नी की मृत्यु हो जाती है, पुनः दूसरी शादी करने के लिए वह तैयार हो जाता है।

जैसे चोरी करने का आदी बना व्यक्ति, चोरी की सजा को जानते हुए भी चोरी करने से रुकता नहीं है।

कैंसर व अन्य रोगों की सम्भावना होने पर भी सिगरेट का व्यसनी धूम्रपान का त्याग करने में समर्थ नहीं हो पाता है।

इसी प्रकार से मोह की मदिरापान के कारण विवेकभ्रष्ट जीवात्मा सुख की चाहना रखते हुए भी दुःख के साधनों को पाने के लिए ही दौड़ लगाता रहता है और अन्त में दुःख पाता है।

धन की आसक्ति के कारण जो अनीति की, उसके फल से जीवात्मा परिचित है। भोग की आसक्ति से जो व्यभिचार किया, उसके फल से जीवात्मा परिचित है। शराब की आसक्ति से जो मदिरापान किया, उसके फल से जीवात्मा परिचित है, फिर भी आश्चर्य है कि जीवात्मा उन बुरे व्यसनों से बच नहीं पाया, यही तो मोह का नशा है। इस नशे को अब उतारना ही होगा, तभी दुर्लभता से प्राप्त मानव-जीवन सार्थक बन सकता है। □

दर्शयन् किमपि सुखवैभवं ,
संहरंस्तदथ सहसैव रे ।
विप्रलम्भयति शिशुमिव जनं ,
कालबटुकोऽयमत्रैव रे ।। कलय० ४३ ।।

अर्थ—यह काल रूपी बटुक जीवात्मा को थोड़ा सा सुख-वैभव दिखाकर, पुनः उसे खींच लेता है, इस प्रकार यह काल जीवात्मा को बालक की भाँति ललचाता रहता है ।। ४३ ।।

विवेचन

कुत्ते को फँसाने के लिए उसे रोटी के टुकड़े का लालच दिया जाता है ।

चूहे को पिंजरे में फँसाने के लिए उसमें रोटी का टुकड़ा रखा जाता है ।

गाय को अपनी ओर खींचने के लिए घास के पूले की लालच दी जाती है ।

····और ! बेचारे ये प्राणी थोड़े से लोभ में आकर मानव के चंगुल में फँस जाते हैं ।

परन्तु मानव भी सुरक्षित कहाँ बचा है ? उसको भी नीचे गिराने के लिए मोहराजा ने उसे 'भौतिक-सुख' का लालच दिया है ।

'सुख' का नाम सुनते ही मनुष्य पागल हो जाता है और

'मृगजल' समान उसे पाने के लिए निरन्तर दौड़ लगाता रहता है।

थोड़ा सा धन मिला, मानव उसकी मस्ती में पागल हो जाता है और नये-नये सुखों की कल्पना के महल खड़े कर लेता है। अब तो मेरे पास इतना धन है, इससे मैं बड़ा बंगला खरीद लूंगा···फिर एक कार खरीद लूंगा···मनचाहे स्थान पर घूमने जाऊंगा···और इस प्रकार इस दुनिया में मैं सबसे बड़ा और सुखी हो जाऊंगा। सभी लोग मेरी पृच्छा करेंगे···मुझे सेठ कहेंगे, इत्यादि नाना प्रकार की कल्पनाओं के जाल को गूंथ लेता है।

अपनी इस कल्पना को साकार करने के स्वप्न संजोए जब वह बैठता है, तब तक तो यमराज उसका सर्वस्व छीन लेता है और उसे एक रंक की हालत में डाल देता है।

करोड़ों की सम्पत्ति वाले सेठ के पास से मृत्यु उसका सर्वस्व-सम्पत्ति छीन लेती है और उस करोड़पति को वह रोडपति बना देती है। □

सकल - संसारभयभेदकं,
जिनवचो मनसि निबधान रे।
विनय परिणमय निःश्रेयसं,
विहित - शमरस - सुधापान रे॥ कलय० ४४॥

अर्थ—हे विनय! संसार के समस्त भयों को भेद देने वाले जिनवचन को हृदय में धारण करो। शान्त रस का अमृतपान कर अपने आपको निःश्रेयस् में बदल दो॥ ४४॥

विवेचन

अनमोल है जिन-वाणी !!

संसार के इस भीषण स्वरूप को जानकर अब क्या करना चाहिये ? इसका प्रत्युत्तर पूज्य उपाध्यायजी म. अन्तिम गाथा में दे रहे हैं, वे अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे विनय ! यदि तू परम शान्ति और परम आनन्द पाना चाहता है तो जिनवचनों को अपने हृदय में धारण कर। यही जिनवचन समस्त शान्ति का स्रोत हैं। यही परमानन्द की गंगा का उद्‌गम-स्थल हैं। जिनवचन में ही संसार के समस्त भयों को विच्छेद करने की ताकत रही हुई है।

भयंकर खूनी दृढ़प्रहारी को साधु बनाने वाले जिन-वचन ही थे।

भयंकर हत्यारे अर्जुनमाली को शान्तात्मा बनाने वाले भी जिन-वचन ही थे।

भयंकर पापात्मा चिलातिपुत्र को धर्मात्मा बनाने वाले भी ये ही जिन-वचन थे।

अत्यन्त क्रोधी चण्डकौशिक नाग को क्षमाशील बनाने वाले ये ही जिन-वचन थे।

जिसने जिन-वचन का आदर किया....उनका बहुमान किया, उसके लिए त्रिभुवन की लक्ष्मी हथेली पर है। यहाँ तक कि मोक्ष भी उसके लिए हाथबेंत में है।

जिनाज्ञा के प्रति समर्पित आत्मा के लिए संसार का कोई सुख-वैभव दुर्लभ नहीं है।

जिसने जिनाज्ञा की शरणागति स्वीकार कर ली, उस पर शासन करने में मोह भी घबराता है। **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं ...'** का नियम अब उस आत्मा पर लागू नहीं पड़ता है। वह आत्मा तो आसानी से परमपद का भोक्ता बन जाती है।

राजगृही नगरी में मरण-शय्या पर पड़े कुख्यात डाकू लोहखुर ने अपने बेटे रोहिणेय को कहा—'बेटा! मेरी एक बात स्वीकार करेगा?'

उसने कहा—'पिताजी! फरमाइये। आपकी आज्ञा के खातिर तो प्राणों का बलिदान करने के लिए भी तैयार हूँ।'

पिता ने कहा—'बस, जीवन में एक बात का ख्याल रखना—भूलकर भी महावीर की वाणी का श्रवण मत करना।'

रोहिणेय ने पिता को वचन दे दिया और लोहखुर ने अपने प्राण छोड़ दिए।

रोहिणेय भयंकर डाकू तो था ही, वह अब डकैती में विशेष निष्णात हो गया। राजगृही की समस्त प्रजा रोहिणेय के भय से आतंकित थी। श्रेणिक के सिपाही भी उसे पकड़ने में असमर्थ थे।

इसी बीच रोहिणेय जंगल में से गुजर रहा था, पास में ही प्रभु महावीर परमात्मा देशना दे रहे थे। देशना-श्रवण नहीं

करने की प्रतिज्ञा होने से रोहिणेय अपने दोनों कानों में अंगुली डालकर तेजी से भागा। बीच मार्ग में ही एक पैर में काँटा लग जाने से उसे एक कान में से अंगुली निकालनी पड़ी और अफसोस! प्रभु की वाणी उसे अनचाहे भी सुननी पड़ी। प्रभु देव के स्वरूप का वर्णन कर रहे थे। रोहिणेय प्रभु की वाणी को भूलना चाहता था, किंतु भूल न सका।....उस वाणी ने उसे मौत से बचा लिया, जब अभयकुमार उसे युक्तिपूर्वक फँसाना चाहता था....प्रभु की उस वाणी से वह अभयकुमार के मायाजाल को समझ गया और अभयकुमार के चंगुल में फँसने से बच गया।

रोहिणेय मौत के मुख में जाने से बच गया....। किन्तु इस घटना ने रोहिणेय का हृदय परिवर्तित कर दिया, उसके रोम-रोम में प्रभु महावीर के प्रति भक्तिभाव जाग उठा और अन्त में उसने अपने आपको प्रभु के चरणों में समर्पित कर दिया।

रोहिणेय डाकू संत-महात्मा बन गया। यह है प्रत्यक्ष प्रभाव प्रभु-वाणी का।

यह जिनवाणी तो संसार को भेदने में समर्थ है। अतः हे प्रिय आत्मन्! जिनवाणी को आत्मसात् कर, निःश्रेयस् (मोक्ष) को निकट लाने वाले शांत सुधारस का पान कर। ☐

4

एकत्व भावना

एक एव भगवानयमात्मा, ज्ञानदर्शनतरङ्गसरङ्गः ।
सर्वमन्यदुपकल्पितमेतद् व्याकुलीकरणमेव ममत्वम् ।।४५।।

(स्वागता)

अर्थ—यह एक आत्मा ही भगवान है, जो ज्ञान-दर्शन की तरंगों में विलास करने वाली है। इसके सिवाय अन्य समस्त कल्पना मात्र है। ममत्व आकुल-व्याकुल करने वाला है ।। ४५ ।।

विवेचन

आत्मा का मौलिक स्वरूप

अनित्य, अशरण तथा संसार भावना के बाद हम आत्मा के स्वरूप-चिन्तन रूप एकत्व भावना का विचार करेंगे। अनित्यादि भावनाओं में सांसारिक पदार्थों के स्वरूप का चिन्तन किया था। संसार भावना में आत्मा के परिभ्रमण का विचार किया, अब इस भावना में आत्मा का मूल स्वरूप क्या है? और इसके परिभ्रमण का क्या कारण है? इस सन्दर्भ में विचार करेंगे।

एकत्व भावना के सन्दर्भ में एक दृष्टान्त याद आ जाता है।

• एक भयंकर जंगल था। उस जंगल में अनेक जंगली जानवर रहते थे। एक दिन एक गर्भवती सिंहनी जंगल को पार कर किसी नगर के उपखण्ड में जा पहुँची। सिंहनी को प्रसूति की वेदना होने लगी और उसने अत्यन्त वेदना के साथ एक बच्चे को जन्म दिया। बच्चे के जन्म के साथ ही सिंहनी ने अपने प्राण छोड़ दिए। सिंहनी का छोटा सा बच्चा अपनी माँ के इर्दगिर्द बैठा था, तभी पास से एक गड़रिया निकला, उसने मरी हुई सिंहनी और पास में खड़े उस बच्चे को देखा। उसने सोचा—"माँ के बिना सिंह का यह बच्चा मर जाएगा" ऐसा सोच उसने उस बच्चे को कंधों पर उठा लिया और उसे अपने घर ले आया।

उस गड़रिये ने बड़े ही प्रेम से उसे दूध पिलाया। सिंह का बच्चा प्रसन्न था। गड़रिया अपनी भेड़ों के साथ उसे भी जंगल में चराने ले जाता। इस प्रकार आस-पास भेड़ ही भेड़ होने से वह सिंह का बच्चा भी अपने आपको भेड़ समझने लगा और उनके साथ घास-चारा आदि खाने लगा।

एक वर्ष व्यतीत हुआ। एक दिन गड़रिया अपनी भेड़ों को नदी पर पानी पिला रहा था, तभी पर्वत की चोटी पर खड़े एक सिंह ने भयंकर गर्जना की। सिंह की इस गर्जना को सुनते ही सभी भेड़ें भागने लगीं और सिंह का बच्चा भी उन भेड़ों के साथ भागने लगा।

सिंह ने अपनी आँखों से यह दृश्य देखा। 'भेड़ों की तरह यह सिंह क्यों भाग रहा है?' इस प्रश्न ने उसे बेचैन कर दिया। सिंह तेजी से पर्वत के नीचे आया और उसने उस सिंह

के बच्चे को रोक कर कहा—"तुम क्यों भाग रहे हो? सिंह होते हुए तुम इतने डरपोक कैसे बन गए?"

सिंह के ये प्रश्न सुनते ही सिंह का बच्चा विचार में पड़ गया—"मैं तो भेड़ हूँ, मुझे यह सिंह कैसे कह रहा है?"

सिंह ने सोचा—"यह भ्रम में है, अतः इसे नदी किनारे ले जाना चाहिये।"

सिंह उस सिंह के बच्चे को नदी किनारे ले गया और नदी के जल में उसने अपना तथा उसका प्रतिबिम्ब दिखलाया।

ज्योंही सिंह के बच्चे ने अपना प्रतिबिम्ब देखा, त्योंही वह उछल पड़ा "अहो! मैं भी सिंह हूँ—और इसके साथ ही उसकी दीर्घकाल से घर कर गई कायरता दूर भाग गई, शौर्य प्रगट हो गया और उसने सिंह की भाँति ही गर्जना कर दी।"

अब आप बतला सकोगे न कि उस सिंह के बच्चे में शौर्य कहाँ से आया?

जवाब यही होगा—"जब उसे स्व स्वरूप का भान हो गया।"

स्व स्वरूप के ज्ञान के साथ ही सिंह के बच्चे में रही सुषुप्त शक्ति जागृत हो गई।

बस, इस एकत्व भावना में भी हमें यही जानने का है कि 'मैं एक आत्मतत्त्व हूँ', ज्ञान-दर्शन और चारित्र ही मेरी सम्पत्ति है। इसके सिवाय अन्य समस्त पदार्थ मुझ से भिन्न हैं।

अन्य पदार्थों में रही हुई ममता ही आत्मा को परेशान करती है।

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने ठीक ही कहा है—

'अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।'

पर-वस्तु में 'अहं' और 'मम' की बुद्धि ही मोह का मंत्र है, जो समस्त जगत् को अंधा करने वाला है।

अपनी आत्मा तो अकेली है और अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न है। वह स्वयं सुख का महासागर है। इस सुख का कितना ही भोग किया जाय वह कभी समाप्त होने वाला नहीं है। □

अबुधैः परभावलालसालसदज्ञानदशावशात्मभिः।
परवस्तुषु हा स्वकीयता, विषयावेशवशाद् विकल्प्यते ॥४६॥
(प्रबोधता)

अर्थ—पर-भाव को पाने की लालसा में पड़ी हुई अज्ञान-दशा से पराधीन अपण्डित आत्मा, इन्द्रिय-विषयों के आवेग के कारण पर-पदार्थों में भी आत्मबुद्धि (स्वकीयता-अपनापन) की कल्पना कर लेती है ॥ ४६ ॥

विवेचन

अज्ञानता का प्रभाव

अज्ञानता के कारण प्राणी इन्द्रियों के विषयजन्य सुख को सच्चा सुख मान बैठता है और फिर उसके पीछे दौड़धूप करता है। उसकी यह दौड़धूप निरन्तर चलती रहती है। परपदार्थ

में वह आत्मबुद्धि कर उन्हें अपना मान लेता है। परपदार्थों में आत्मबुद्धि हो जाने के बाद वह उन पदार्थों को पाने के लिए दिन-रात मेहनत करता रहता है। कुछ मिल जाय तो उसके संरक्षण की चिन्ता में आकुल-व्याकुल रहता है। इस प्रकार सतत पर-भाव में रमणता के कारण वह अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है और निरन्तर दुःख के गर्त में डूबता जाता है।

ठीक ही कहा है—

परस्पृहा महादुःखं, निस्पृहत्वं महासुखम्।

पर-पदार्थों की स्पृहा-लालसा ही आत्मा को दुःखी बनाती है और उनके प्रति रही निस्पृहता आत्मा को सुखी करती है।

परन्तु अज्ञानदशा के कारण आत्मा स्व-स्वरूप को जानने में अन्ध सी बन जाती है और भौतिक पदार्थों के पीछे दौड़धूप करती रहती है।

रेती को पीस कर कोई तेल निकालना चाहे अथवा पत्तों का सिंचन कर वृक्ष को हरा-भरा रखना चाहे; यह कैसे सम्भव है?

जो आत्मा से भिन्न हैं, उनके प्रति राग व आसक्ति से आत्मा कभी सुखी नहीं हुई है। उससे तो आत्मा विविध दुःखों की भोक्ता ही बनी है।

पर-भाव में आत्मवत् बुद्धि होना ही सबसे बड़ी अज्ञानता है और यह अज्ञानता ही सर्व दुःखों का मूल है। कहा भी है—

धन भोगों की खान है, तन रोगों की खान।
ज्ञान सुखों की खान है, दुःख खान अज्ञान॥

पर-पदार्थों में रही हुई आत्मवत् बुद्धि को दूर कर स्वभाव में लीन बनना यही परमानन्द की प्राप्ति का मार्ग है और उसी के लिए हमारा प्रयास होना चाहिये। □

कृतिनां दयितेति चिन्तनं, परदारेषु यथा विपत्तये।
विविधार्तिभयावहं तथा, परभावेषु ममत्वभावनम् ॥४७॥

अर्थ—जिस प्रकार परस्त्री में स्वस्त्री की कल्पना बुद्धिमान् पुरुष के लिए आपत्ति का कारण बनती है, उसी प्रकार अन्य वस्तु में अपनेपन की भावना (ममत्वबुद्धि) विविध पीड़ाओं को लाने वाली ही होती है ॥ ४७ ॥

विवेचन

पर-भाव में रमणता भयंकर है

परस्त्री की ओर जो नजर करता है, उसके साथ संग करने के लिए प्रयत्न करता है, उसकी हालत खराब ही होती है। 'दशवैकालिक' में ठीक ही कहा है—

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारीओ।
वाया विद्धुव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥

सती राजीमती रथनेमि को कहती है कि—"हे रथनेमि! यदि तुम इस प्रकार राग भाव का सेवन करते रहोगे तो जब-जब स्त्री को देखोगे, तब-तब पवन से स्फुरित होने वाली हड नामक वनस्पति की तरह तुम अस्थिर (आत्मा वाले) बन जाओगे।"

अर्थात् जिसका मन परस्त्री में रंजित बना है, वह अपनी

आत्म-स्थिरता खो देता है। उसके मन में नाना प्रकार के विकल्प चलते रहते हैं और इस प्रकार वह सदैव अशान्त-अस्थिर दशा में रहता है।

परस्त्री व्यसनी की समाज में भी इज्जत नहीं होती है, लोग उसे हल्की नजर से देखते हैं।

बस, इसी प्रकार आत्मगुणों को छोड़कर पर-पदार्थों में ममत्व करना एकमात्र आपत्ति का ही कारण है। पौद्गलिक पदार्थ आत्मा से पर हैं। अतः परपदार्थ की ओर नजर डालना....उनसे प्रेम करना यह परस्त्रीगमन की तरह ही है, जो अनेक आपत्तियों को लाने वाला है।

इस संसार-भ्रमण का भी मुख्य कारण जो अपना नहीं है, उसमें अपनेपन की बुद्धि ही है।

परभाव में रमण की यह कितनी भयंकर सजा है कि 'अजन्मा' स्वभाव वाले आत्मा को जन्म लेना पड़ता है। 'अमर' स्वभाव वाली आत्मा को मरना पड़ता है। □

अधुना परभावसंवृतिं हर चेतः परितोऽवगुण्ठितम्।
क्षणमात्मविचारचन्दन-द्रुमवातोर्मिरसाः स्पृशन्तुमाम् ।।४८।।

अर्थ—हे मन! चारों ओर से घिरे हुए पर-भाव रूप आवरण को तू दूर हटा दे, ताकि आत्मचिन्तन रूप चन्दन वृक्ष के पवन की उर्मि के रस का क्षणभर के लिए मुझे स्पर्श हो जाय ।। ४८ ।।

विवेचन

आत्मचिन्तन का आनन्द

शुभ-अशुभ विचारों का उद्गमस्थल मन ही है। आचार का मूल भी विचार ही है। अधिकांशतः मनुष्य की प्रवृत्ति उसके मन की वृत्ति के अनुसार होती है। किसी भी कार्य को साकार रूप देने के पूर्व सर्वप्रथम मन में विचार पैदा होता है। तत्पश्चात् मन के भाव वाणी द्वारा व्यक्त होते हैं और फिर वे विचार क्रियात्मक भाव धारण करते हैं।

परभाव में अपनी रमणता का मूल अपना मन ही है। मन यदि समझ जाय तो सद्विचार की ओर मुड़ सकता है। अतः मन को समझाते हुए पूज्य उपाध्यायजी कहते हैं कि हे मन! तेरे चारों ओर पर-भाव की रमणता का मोटा-काला पर्दा रहा हुआ है, इस पर्दे को तू हटा दे। इस पर्दे के हटने के साथ ही तुझे स्वरमणता का आस्वादन होगा, जो चन्दन वृक्ष के पास से बहते हुए शीतल पवन की भाँति आनन्ददायी होगा।

आत्मस्वरूप के चिन्तन से जीवात्मा को चन्दन से भी अधिक शीतलता का अनुभव होता है। आत्म-रमणता के आनन्द की मस्ती कुछ और ही होती है, वह शब्दातीत है, उसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। शक्कर के स्वाद को शब्दों में कहना अशक्य है, उसी प्रकार आत्मानन्द की मस्ती को शब्दों से नहीं कह सकते हैं।

आत्मा तो अक्षय सुख का सागर है। उसके निकट जाते ही परम शान्ति की शीतल लहरों का अनुभव होगा।

अतः हे मन ! तू पर-भाव को छोड़ दे। आत्मा का जो वास्तविक स्वरूप है, उसका तू विचार कर, चिन्तन कर, जिससे तुझे परम आह्लाद की प्राप्ति होगी।

एक क्षण भर का भी आत्मविचार परम शान्ति का बीज है, अतः तू उसी में डूब जा। □

एकतां समतोपेता-मेनामात्मन् विभावय।
लभस्व परमानन्द-सम्पदं नमिराजवत् ॥ ४९ ॥

(अनुष्टुप्)

अर्थ—हे आत्मन् ! समत्व से युक्त एकता का तू भावन कर, जिससे नमि राजर्षि की तरह तुझे परमानन्द की सम्पत्ति प्राप्त होगी ॥ ४९ ॥

विवेचन

समतायुक्त एकत्व भावना का प्रभाव

समता आत्मा का स्वभाव है। समता अर्थात् माध्यस्थ दशा। न इष्ट का राग और न अनिष्ट का द्वेष। न मित्र पर प्रेम और न शत्रु के प्रति घृणा। न स्वर्ण की आसक्ति और न ही तृण का तिरस्कार।

सर्व अवस्थाओं में माध्यस्थ रहना यह आत्मा का स्वभाव है। इस स्वभाव की प्राप्ति से आत्मा वीतराग बन जाती है और मोह के जाल से सर्वथा मुक्त हो जाती है। मोह से मुक्त आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाती है और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी आत्मा अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के उपयोग में लीन रहती है।

वह सुख के महासागर में डूब जाती है। इस संसार के समस्त सुखी प्राणियों का सुख इकट्ठा किया जाय तो भी वह सुख एक सिद्धात्मा के एक आत्मप्रदेश द्वारा अनुभूत सुख के बराबर भी नहीं है। आत्मसुख के आगे इन्द्र और चक्रवर्ती के सुख भी नगण्य हैं।

इस आत्मसुख की प्राप्ति आत्मा की एकता के भावन से होती है।

एकता के भावन में नमि राजर्षि का दृष्टान्त प्रसिद्ध है, जो निम्नानुसार है—

वेदना में से विराग की ज्योति प्रगटाने वाले नमिराजा मिथिला के अधिपति थे। सती मदनरेखा के सुपुत्र नमिराजा छह मास से भयंकर वेदना से ग्रस्त थे। अनेक उपचारों के बावजूद भी उनके स्वास्थ्य में लेश भी सुधार नहीं हो रहा था।

समय-समय की बात है, एक बार के अत्यन्त सुखी नमिराजा आज दुःख की आग में तपे जा रहे थे।

राजसिंहासन पर बैठने वाले नमिराजा शय्या पर पड़े-पड़े अपनी वेदना भोग रहे थे।

नमिराजा के देह की रक्षा के लिए सैकड़ों वैद्य प्रयत्नशील थे···परन्तु वेदना में थोड़ा भी अन्तर नहीं पड़ रहा था····। अन्त में एक उपचार उन्हें लागू पड़ गया। चन्दन के लेप से उन्हें शीतलता का अनुभव होने लगा···और नमिराजा की शान्ति से सभी के चेहरे प्रसन्न बन गए। राजरानियाँ आदि सभी महाराजा

की शान्ति के लिए चन्दन घिसने लगीं। सैकड़ों रानियाँ निरन्तर चन्दन घिस रही थीं, इस प्रकार चन्दन घिसते समय राजरानियों के हाथों में रहे कंकण परस्पर टकराकर आवाज करने लगे। कंकण के टकराने से उत्पन्न ध्वनि को सहन करने में नमिराजा अशक्त हो चुके थे, अतः वे चिल्ला उठे—"अहो! आज मेरे सब दुश्मन बन गए। इस प्रकार कर्णभेदी आवाज क्यों हो रही है?"

महाराजा के भाव को जानते ही सभी महारानियों ने अपने हाथों में से एक कंकण को छोड़, शेष कंकण उतार दिए और थोड़ी ही देर बाद कंकण की मर्मभेदी ध्वनि शान्त हो गई। फिर भी राजरानियाँ जोरों से चंदन घिसे जा रही थीं।

तभी महाराजा ने कहा—"मंत्रीश्वर! क्या चन्दन का घिसना बन्द हो गया है, वही तो मेरा जीवन है····देखो, अभी चन्दन घिसने की आवाज तो नहीं आ रही है।"

मंत्री ने कहा—"राजन्! चन्दन के विलेपन के प्याले तैयार हैं। चन्दन का घिसना बंद नहीं हुआ है, किन्तु महारानियों ने अपने हाथों में से एक कंकण को छोड़ शेष कंकण उतार दिये हैं, अतः उनकी आवाज बन्द हो गई है। जहाँ दो कंकण टकराते हैं, वहाँ आवाज होती है और जहाँ एक ही कंकण होता है, वहाँ आवाज का प्रश्न ही नहीं है।"

मंत्रीश्वर की यह बात सुनते ही नमि महाराजा को आत्म-चिन्तन की नई दिशा मिल गई। वे सोचने लगे—"एक में शान्ति, अनेक में अशान्ति।"

वेदना की आग में से नमिराजा की अन्तश्चेतना जागृत हो गई और अपनी चिन्तनधारा में वे आगे बढ़ने लगे, 'एक में आनन्द है। जहाँ दो, वहाँ कलह और क्लेश है। एक कंकण में कितनी शान्ति है और दो में कितना कोलाहल ! आध्यात्मिक जगत् में भी यह बात उतनी ही सत्य है, जो आत्मा अकेली बन गई निस्संग बन गई, वह कितनी शान्त हो जाती है !'

शैशव काल में प्राणी अकेला होता है, अतः कितना आनन्दमय होता है। यौवन को पाते ही वह दो बनना चाहता है और फिर दो में से चार....। बस, एकता का भंग हो गया और चिन्ताओं ने उसे घेर लिया। जीवन की शान्ति धूल में मिल गई। ओह ! एकता में आनन्द....अनेकता में शोक।

और इस चिन्तन से नमिराजा के चेहरे पर प्रसन्नता छाने लगी। एकता की भावना ने ही उन्हें शान्ति के महासागर में डुबो दिया।

कार्तिक पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की भाँति उनके चेहरे पर प्रसन्नता बढ़ने लगी और उन्होंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया—"यदि इस वेदना से मैं मुक्त हो जाऊँ तो प्रातःकाल ही संसार का त्याग कर प्रभुपंथ का पथिक बन जाऊंगा।"

दृढ़ संकल्प में एक महान् शक्ति होती है और उससे विपत्तियों के सब बादल दूर हो जाते हैं।

बस, इस संकल्प के बाद नमिराजा की आँखें निद्रा से घिर गईं और उन्होंने अत्यन्त शान्ति का अनुभव किया। सभी वैद्य तो इसी भ्रम में थे कि आखिर हमारी औषधि का प्रयोग सफल हो गया।

प्रातःकाल के प्रकाश के पूर्व नमिराजा एक स्वप्न में लीन थे। स्वर्ण के मेरुपर्वत पर उन्होंने अपने आपको घूमते हुए देखा। और फिर तो उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्व के तीसरे भव में एकता-समता की साधना करने वाले वे एक साधक महात्मा थे। उस जीवन को पूर्ण कर वे देव बने थे। उस देवभव में सैकड़ों तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का महोत्सव इसी मेरुपर्वत पर उन्होंने किया था।

गत जन्म के इस जातिस्मरण ज्ञान ने उनके विराग के दीप को अधिक प्रज्वलित किया और प्रातः होते ही वे त्याग की यात्रा पर प्रयाण कर गए।

सारी मिथिला विलाप कर रही थी। नमिराजा के इस संसार-त्याग से मिथिलावासियों के चेहरों पर गाढ़ उदासीनता नजर आ रही थी।

चारों ओर से क्रन्दन की आवाज सुनाई दे रही थी। किन्तु नमिराजा अपने संकल्प पर दृढ़ थे। वीरों का संकल्प पत्थर की लकीर होता है। वे उस क्रन्दन से पीछे हटने वाले नहीं थे।

ब्राह्मण के वेष में इन्द्र महाराजा ने आकर उनकी परीक्षा ली। नाना प्रकार की समस्याएँ प्रस्तुत कीं, परन्तु नमिराजा के प्रत्युत्तर को सुनकर इन्द्र महाराजा भी चकित रह गए।

इस प्रकार एकत्व भावना की चिनगारी में से विराग के रागी बनकर अन्त में नमि राजर्षि वीतराग बन गए।

□

चतुर्थभावनाष्टकम्-गीतम्

विनय चिन्तय वस्तुतत्त्वं ,
जगति निजमिह कस्य किम् ।
भवति मतिरिति यस्य हृदये ,
दुरितमुदयति तस्य किम् ।। विनय० ५० ।।

अर्थ—हे विनय ! तू वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन कर। इस जगत् में वास्तव में अपना क्या है ? इस प्रकार की बुद्धि जिसके हृदय में उत्पन्न होती है, क्या उसे किसी प्रकार के दुःख का उदय हो सकता है ? ।। ५० ।।

विवेचन

जगत् का वास्तविक दर्शन करो

पूज्य उपाध्याय श्री विनयविजयजी म. एकत्व भावना के गेयाष्टक में अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे विनय ! तू जरा विचार कर, इस संसार में तेरा क्या है ?

इस एक वाक्य के चिन्तन में तो सोचने की नई दिशा मिल जाती है। वास्तव में, इस दुनिया में जितने भी पाप हैं अथवा

हो रहे हैं, उन सबका मूल सांसारिक वस्तुओं पर रही हुई ममत्व-स्वामित्व की भावना ही है। इस ममत्व के कारण ही जीवात्मा इस संसार में चारों ओर भाग-दौड़ करता है और इष्ट विषय की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के पापकर्म-दुष्कर्म आदि भी करता है। वह सांसारिक व्यक्तियों व वस्तुओं में 'अपनेपन-पराएपन' की कल्पना कर लेता है।

इस ममत्व की बुद्धि से जीवात्मा विशाल क्षेत्र का मालिक बनने का प्रयत्न करता है। धन के ढेर खड़े कर देता है। परन्तु जब आयुष्य समाप्त हो जाता है, तब सब यहीं का यहीं रह जाता है और जीवात्मा को अकेला ही जाना पड़ता है। जरा, कवि की भावपूर्ण पंक्तियों का गान कर लें—

तू चेत मुसाफिर ! चेत जरा,
क्यों मानत मेरा - मेरा है।
इस जग में नहीं कोई तेरा है।
जो है सो सभी अनेरा है॥

....ए काया नश्वर तेरी है,
एक दिन वो राख की ढेरी है,
जहाँ मोह का खूब अंधेरा है,
क्यों मानत मेरा - मेरा है॥ १ ॥

जरा, गहराई से सोचेंगे तो पता चलेगा कि इस संसार में अपना कोई नहीं है। छह खण्ड का अधिपति-चक्रवर्ती भी मृत्यु के समय एक फूटी कौड़ी भी साथ में नहीं ले जा सकता है।

सिकन्दर ने अपने जीवन में धन के ढेर लगा दिए थे, किन्तु मृत्यु समय वह अपने साथ क्या ले गया ?

सोने के ढेर करने वाला मोहम्मद गजनवी जीवन के अन्तिम दिनों में पागल हो गया था और कुत्ते की मौत मरा था।

'इस संसार में मेरा कोई नहीं है' इस सत्य को जीवन में पचा लिया जाय तो व्यक्ति अनेक पापों से बच सकता है। दुनिया में अधिकांशतः पाप क्षणिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए ही होते हैं। परन्तु इस सत्य को जान लेंगे तो इस प्रकार के अनर्थदंड के पापों से जीवात्मा आसानी से बच सकेगा। □

एक उत्पद्यते तनुमा-
नेक एव विपद्यते।
एक एव हि कर्म चिनुते,
स एककः फलमश्नुते ।। विनय० ५१ ।।

अर्थ—(इस संसार में) जीवात्मा अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है, वह अकेला ही कर्मों का संग्रह करता है और वह अकेला ही उनके फल को भोगता है।। ५१ ।।

विवेचन

सुख-दुःख का कर्त्ता व भोक्ता आत्मा ही है

इस संसार में जीव अकेला ही आया है और अकेला ही जाएगा। हाँ, व्यर्थ के सम्बन्धों की कल्पना कर आज तक इस जीवात्मा ने जो शोक के आँसू बहाए हैं, उनको इकट्ठा किया जाय तो उसके आगे लवण-समुद्र भी एक छोटा तालाब सा प्रतीत होगा। जीवात्मा ने अपनी मृत्यु से जिन स्वजनों को

रुलाया है, उनके आँसुओं को इकट्ठा किया जाय तो उसके आगे स्वयंभूरमण समुद्र भी नगण्य सा प्रतीत होगा।

कुछ भी हो, स्वयं रोए अथवा दूसरों को रुलाए, फिर भी जीवात्मा को परलोक की सफर अकेले ही करनी पड़ती है। एक-दूसरे के प्रेम में पागल होने वाले दुनिया में बहुत मिलेंगे और एक-दूसरे के लिए प्राण देने की बात करने वाले भी मिल जाएंगे और आगे बढ़कर एक की मृत्यु के पीछे अपने जीवन का अन्त भी कर दे तो भी परलोक में वह उसी के साथ रहेगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। इस जन्म में हजारों व्यक्तियों के साथ प्रेम का सम्बन्ध जोड़ने वाले को भी मृत्यु का दुःख अकेले ही सहन करना पड़ता है।

श्रेणिक महाराजा ने जब अनाथी मुनि को कहा—"मैं तुम्हारा नाथ बनने के लिए तैयार हूँ।" तो अनाथी मुनि ने कहा—"तुम स्वयं अनाथ हो अतः मेरे नाथ कैसे बनोगे? यदि सांसारिक समृद्धि से अपने आपको नाथ मानते हो, तब तो ऐसा 'नाथ' मैं भी था। परन्तु वह नाथपना सच्चा नहीं है। कर्म के उदय से आने वाली वेदना को हटाने वाला कौन?" अन्त में मुनि ने यही कहा—

'जिनधर्म बिना नरनाथ, नथी कोई मुक्ति नो साथ।'

जिनेश्वर का धर्म ही आत्मा का सच्चा साथी है और उसी की शरणागति से आत्मा बन्धनमुक्त बनती है।

जैनदर्शन का यह सनातन सत्य है कि आत्मा ही अपने कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा जिस प्रकार के शुभ अथवा अशुभ कर्म का बंध करती है, उसके अनुसार ही वह शुभ अथवा

अशुभ फल को प्राप्त करती है। यदि गत जन्म में पापकर्म किये हैं तो उसकी सजा भी स्वयं को ही भोगनी पड़ती है। अनेक सतियों के जीवन में भी जो भयंकर आपत्तियाँ आई थीं, उसका भी मुख्य कारण उनका ही कर्म था। यहाँ तक कि तीर्थंकर भगवान पर भी जो भयंकर उपसर्ग होते हैं, उनमें भी उनके ही पूर्वजन्म का कर्म कारण है।

तीर्थंकर भी कर्म के फल से बच नहीं सकते हैं तो हम जैसों की क्या हैसियत है। अतः 'जैसा बोओगे-वैसा काटोगे' As you sow, so shall you reap. के नियम को समझकर जीवन में दुःख के कारणभूत दुष्कर्म की प्रवृत्ति से दूर रहना ही श्रेय का मार्ग है। □

यस्य यावान् परपरिग्रह-
विविधममतावीवधः ।
जलधिविनिहितपोतयुक्त्या ,
पतति तावदसावधः ।। विनय० ५२ ।।

अर्थ—विवध प्रकार की ममताओं से भारी बने प्राणी को जितना-जितना अन्य वस्तुओं का परिग्रह होता है, उतना ही वह समुद्र में रहे यान की तरह नीचे जाता है ।। ५२ ।।

विवेचन

आत्मा ममता से भारी बनती है

आपको यदि ट्रेन में सफर करना है तो आप ३६ किलोग्राम तक वजन का सामान अपने साथ ले जा सकते हैं। इससे

अधिक वजन होने पर आपको अधिक चार्ज देना पड़ता है; किन्तु यदि आप वायुयान से यात्रा करना चाहते हैं तो अपने साथ अधिक सामान नहीं रख सकते हैं। वायुयान व जलयान में वजन उठाने की अपनी एक क्षमता होती है। क्षमता से अधिक वजन डालने पर जलयान के डूबने की सम्भावना रहती है।

ममता से आत्मा भारभूत बनती है। ज्यों-ज्यों आत्मा ममता करती है, त्यों-त्यों उसको ऊँचे उठने में कठिनाई रहती है और वह नीचे गिरती जाती है। स्वर्ग व अपवर्ग तक पहुँचने के लिए आत्मा को निर्मम बनना होगा। आत्मा यदि ममत्व वाली बनेगी तो वह अधोलोक में जाएगी। नरक व निगोद की दुःखभरी यात्रा उसे करनी पड़ेगी।

संसार में ममत्व के अनेक क्षेत्र हैं। व्यक्ति ज्यों-ज्यों स्व के निकट पहुँचता है, त्यों-त्यों उसकी ममता बढ़ती जाती है।

अन्य देश में रहने वाले भारतीय को भारतीय व्यक्ति मिलते ही प्रेम पैदा हो जाएगा। जितना प्रेम उस व्यक्ति से अन्य देश में होगा, उतना प्रेम उसे स्वदेश में नहीं होगा। स्वदेश में भी राजस्थानी को जितना प्रेम राजस्थानी से होगा, उतना प्रेम गुजराती से नहीं होगा।

राजस्थानी को भी जितना प्रेम अपने गाँव में रहने वाले से होगा, उतना प्रेम अन्य गाँव में रहने वाले से नहीं होगा। फिर एक व्यक्ति को जितना प्रेम अपने मोहल्ले वाले से होगा, उतना प्रेम अन्य मोहल्ले वाले से नहीं होगा। फिर जितना प्रेम पड़ोसी से होगा, उतना प्रेम दूर रहने वाले से नहीं होगा।

पड़ोसी से भी अधिक प्रेम स्वजन-कुटुम्ब से होगा। कुटुम्ब में भी अधिक प्रेम पुत्र आदि पर होगा और पुत्र से अधिक प्रेम पत्नी पर होगा और पत्नी से अधिक प्रेम स्व शरीर पर होगा।

इस प्रकार ममता के अनेक क्षेत्र हैं। पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि इस प्रकार नाना प्रकार की ममताओं के वशीभूत होकर आत्मा भारी ही बनती है और उस ममता के भार से आत्मा की दुर्गति ही होती है। अतः ममत्व त्याग के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिये। □

स्व - स्वभावं मद्यमुदितो,
भुवि विलुप्य विचेष्टते।
दृश्यतां परभावघटनात्,
पतति विलुठति जृम्भते ।। विनय० ५३ ।।

अर्थ—शराब के नशे में पागल बना व्यक्ति अपने मूल स्वभाव का त्याग कर पृथ्वी पर आलोटने की व्यर्थ चेष्टा करता है, इसी प्रकार पर-भाव की घटना से जीवात्मा नीचे गिरता है, आलोटता है और जम्भाई लेता है ।। ५३ ।।

विवेचन

परभाव रमणता की शराब

शराबी की दशा से आप शायद ही अपरिचित होंगे? शराब के नशे में व्यक्ति अपना भान खो देता है। वह अपनी गुप्त बात भी प्रकट कर देता है। माँ के साथ पत्नी जैसा और

पत्नी के साथ माँ जैसा व्यवहार भी कर सकता है। शराबी व्यक्ति नशे में व्यर्थ ही बकवास करता रहता है। कीचड़ व धूल में आलोटता है। कुत्ता उसके मुँह में पेशाब कर देता है, फिर भी उस पेशाब को वह अमृत मानकर पी जाता है। मल-मूत्र में उसे किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती है। यह हालत है शराबी की।

पूज्य उपाध्यायजी म. जो परभाव में लिप्त है, उसकी इस शराबी के साथ तुलना कर रहे हैं। शराबी को जैसे शराब के संग में आनन्द आता है, उसी प्रकार से पुद्गलानन्दी आत्मा को भी पुद्गल के संग में ही आनन्द आता है, परन्तु उसका यह आनन्द पागलपन जैसा ही है।

सूअर विष्टा व कीचड़ को ही अपना स्वर्ग समझता है, उसे गन्दगी ही प्रिय है। बस! इसी प्रकार से भवाभिनन्दी आत्माएँ भी पुद्गल के आनन्द में ही मस्त रहती हैं; परन्तु उनका यह आनन्द क्षणविनश्वर होता है; अन्त में, वे दुःख के गर्त में ही डूबती हैं।

पुद्गलरसिक आत्मा पौद्गलिक सुख के लिए तनतोड़ प्रयास करती है। अनुकूल विषय की प्राप्ति में फूले नहीं समाती है। क्षणिक सुख में स्वर्ग की कल्पना कर लेती है और उसी में आत्मा का मोक्ष समझती है। Eat, drink and be marry. खाओ, पीओ और मौज करो; यही उनके जीवन का सिद्धान्त होता है। परन्तु इन आत्माओं की दशा तो उस शराबी जैसी ही होती है।

पश्य काञ्चनमितरपुद्गल-
मिलितमञ्चति कां दशाम् ।
केवलस्य तु तस्य रूपं,
विदितमेव भवादृशाम् ।। विनय० ५४ ।।
एवमात्मनि कर्मवशतो,
भवति रूपमनेकधा ।
कर्ममलरहिते तु भगवति,
भासते काञ्चनविधा ।। विनय० ५५ ।।

अर्थ--अन्य पदार्थ के साथ मिलने पर स्वर्ण की क्या हालत होती है ? उसे देखो, और जब वह स्वच्छ होता है तब उसका रूप कैसा होता है ? इस बात को तो तुम जानते ही हो न ? ।। ५४ ।।

अर्थ—इसी प्रकार आत्मा भी कर्म के वशीभूत होकर नाना प्रकार के रूप धारण करता है और जब वह कर्ममल से रहित होता है, तब शुद्ध कंचन के समान दीप्तिमान होता है ।। ५५ ।।

विवेचन

आत्मा का स्वरूप शुद्ध कंचन जैसा है

शुद्ध व स्वच्छ स्वर्ण को देखो, वह भगवान् का मुकुट बनकर, प्रभु के मस्तक पर शोभ रहा है अथवा गले का हार बना हुआ है। सभी लोग उसकी कीमत करते हैं, उसकी सुरक्षा करते हैं और उसे पाने के लिए प्रयत्न करते हैं और

वही सुवर्ण, जब मिट्टी के संग में रहता है, तब कितना मलिन होता है ? वह पैरों तले रौंदा जाता है। धूल के समान ही उसकी कीमत होती है।

अशुद्ध और शुद्ध स्वर्ण की दशा के बीच जो अन्तर है, वैसे ही अशुद्ध और शुद्ध आत्मा के बीच अन्तर है।

आत्मा जब तक कर्ममल से संयुक्त रहती है, तभी तक इस संसारचक्र में परिभ्रमण करती है। जिस प्रकार लेपकृत तुम्बी पानी के तल में पड़ी रहती है और वही जब लेप से मुक्त हो जाती है, तब ऊर्ध्वगामी बनती है। इस नियमानुसार आत्मा जब तक कर्म के संयोग में रहती है, तब तक इस संसार में नाना जन्म-मरण करती रहती है और जब आत्मा कर्म से सर्वथा रहित बन जाती है तब वह अपने मूल सच्चिदानन्द स्वभाव को प्राप्त कर लेती है और एक ही समय में ऊर्ध्वगति कर चौदह राजलोक के अग्रभाग तक पहुँच जाती है। एक बार कर्म-मुक्त हो जाने के बाद पुनः वह शरीर धारण नहीं करती है। मुक्तात्मा को न जन्म की पीड़ा होती है और न ही मरण की। वह अपने निजस्वरूप में मस्त रहती है। चारों ओर कार्मण वर्गणाएँ होते हुए भी रागद्वेष से मुक्त होने के कारण सिद्धात्मा उन्हें ग्रहण नहीं करती है। □

ज्ञानदर्शन - चरणपर्यव-
परिवृतः परमेश्वरः।
एक एवानुभव - सदने,
स रमतामविनश्वरः ॥ विनय० ५६ ॥

अर्थ—वह आत्मा (परमेश्वर) शाश्वत है और सदा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्यायों से घिरा हुआ है और एक है। ऐसे परम अविनश्वर परमात्मा मेरे अनुभव मन्दिर में रमण करे ।। ५६ ।।

विवेचन

हृदय में परमात्मा की स्थापना करो

'उपयोगो लक्षणम्' यह जीव का लक्षण है। आत्मा कभी साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) में रहती है तो कभी निराकारोपयोग (दर्शनोपयोग) में। संसारी अवस्था में, कर्मयुक्त अवस्था में आत्मा का उपयोग अशुद्ध रहता है। अशुद्ध उपयोग के कारण संसारी आत्मा हेय में उपादेय बुद्धि और उपादेय में हेय बुद्धि कर लेती है, फलस्वरूप वह कर्म-बन्धनों से ग्रस्त बनती है और अनेक यातनाएँ भोगती हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण पर आवरण ला देता है और इस आवरण के कारण आत्मा वस्तु के यथावस्थित स्वरूप को जान नहीं पाती है। परन्तु जब आत्मा राग और द्वेष से मुक्त बनकर मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर वीतराग बन जाती है, तब तत्काल ही उस पर से ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण भी सर्वथा हट जाता है और इस आवरण के हटने के साथ ही आत्मा अनन्त ज्ञानमय बन जाती है। ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियों (मति ज्ञानावरणीय, श्रुत ज्ञानावरणीय, अवधि ज्ञानावरणीय, मनःपर्यव ज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय) के साथ ही आत्मा दर्शनावरणीय की चार प्रकृतियों (चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शना-

वरणीय और केवल दर्शनावरणीय) तथा अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियों (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय) का भी क्षय कर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य गुण को भी प्राप्त करती है। इस प्रकार चार घाती कर्मों का क्षय हो जाने से आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और वीतरागता प्राप्त करती है। राग और द्वेष के निवारण से आत्मा जिस परम सुख का अनुभव करती है, वह सुख अतुलनीय होता है। ऐसे परमात्मा केवलज्ञान और केवलदर्शन के बल से समस्त चराचर जगत् के समस्त भूत, भावी और वर्तमान पर्यायों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखते हैं।

वे परमात्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, वीतरागता अर्थात् अक्षय चारित्र की पर्यायों में लीन रहते हैं।

ऐसे विशुद्ध स्वरूपी जो परमात्मा हैं, उन्हें अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित करना चाहिये। अपने अनुभव मन्दिर में ऐसे एक वीतराग परमेश्वर की स्थापना कर उनसे वार्तालाप करो और उन परमात्मा के साथ अपनी आत्मा की एकता सिद्ध करो।

परमात्मा ने जिस विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त किया है, उसी विशुद्ध स्वरूप की स्वामिनी अपनी आत्मा भी है। अतः उन परमात्मा को हृदय में स्थापित कर अब हमें अपनी आत्मा के परमात्म स्वरूप को पहचान लेना है। उस पहचान के बाद आत्मा जिस परम आनन्द का अनुभव करती है, वह अलौकिक ही है। अतः परमेश्वर परमात्मा को अपने हृदय मन्दिर में स्थापित करने के लिए तैयार हो जाओ। □

रुचिर - समतामृतरसं क्षण-
मुदितमास्वादय मुदा ।
विनय ! विषयातीत-सुखरस ,
रति-रुदञ्चतु ते तदा ।। विनय० ५७ ।।

अर्थ—जिस समता के अमृतरस का स्वाद तुझमें अचानक जाग उठा है, उसका क्षण भर के लिए आस्वादन कर। हे विनय ! विषय से अतीत सुख के रस में तुझे सदा प्रेम हो ।। ५७ ।।

विवेचन

आत्मा का सुख–वास्तविक सुख

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने कहा है—

देह मन वचन पुद्गल थकी ,
कर्म थी भिन्न तुज रूप रे।
अक्षय अकलंक छे जीव नुं ,
ज्ञान आनन्द स्वरूप रे ।।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप का कितना सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया गया है। आत्मा न देहस्वरूप है, न मनस्वरूप है, न वचनस्वरूप है और न ही पुद्गलस्वरूप है। आत्मा तो देहातीत है, वचनातीत है। ज्ञान और आनन्द यही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है।

पूज्य उपाध्याय श्री विनयविजयजी म. एकत्व भावना का उपसहार करते हुए अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे विनय ! एकत्व के भावन से तुझ में जो प्रशम-

रस रूप अमृतरस पैदा हुआ है, उसका तू क्षण भर के लिए पान कर ले। वाह! उस शमरस का स्वाद कितना मधुर है। उसके आगे काव्य के नौ रस और भोजन के षड्रस भी नीरस प्रतीत होते हैं। एक घटना याद आ जाती है—

• एक श्रेष्ठिपुत्र ने अपने घर से श्वसुर-गृह की ओर गमन किया। कुछ जंगली रास्ता था। मार्ग भी बड़ा विकट था, किन्तु श्रेष्ठिपुत्र के साथ कोई नहीं था। श्रेष्ठिपुत्र एक जंगल में आ पहुँचा जहाँ तीन दिशाओं में पगडण्डियाँ जा रही थीं। श्रेष्ठिपुत्र विचार में पड़ गया, 'मैं किस ओर जाऊँ?' तभी उसे एक ग्वाला दिखाई दिया। उसने ग्वाले से पूछा—'क्या तुम पृथ्वीपुर नगर का रास्ता जानते हो?' ग्वाले ने कहा—"हाँ, आपको कहाँ जाना है?"

उसने कहा—"अपने श्वसुर के गृह"। "तो मुझे भोजन खिलाओगे।" श्रेष्ठिपुत्र ने कहा—"जरूर। बढ़िया से बढ़िया भोजन खिलाऊंगा।"

"क्या मुझे गुड़ की राब खिलाओगे?" श्रेष्ठिपुत्र ने हामी भर दी। वह ग्वाला श्रेष्ठिपुत्र के साथ चल पड़ा। वह उस मार्ग से परिचित था, अतः श्रेष्ठिपुत्र को उसके श्वसुर-गृह तक पहुँचाने में उसे कोई तकलीफ नहीं हुई।

श्वसुर-गृह में पहुँचते ही श्वसुर आदि ने अपने जामाता का स्वागत किया। भोजन का समय हो चुका था, अतः तत्काल श्वसुर ने अपने जामाता के स्वागत में विविध पकवान तैयार करवाए। भोजन का समय होते ही जामाता भोजन के लिए बैठा। उस ग्वाले को भी पकवान परोसे गए। श्रेष्ठिपुत्र का साला ज्योंही भोजन का थाल लेकर अन्दर पहुँचा, त्योंही ग्वाले ने आँखें

लाल कर अपनी लाठी उठाई और श्रेष्ठिपुत्र से बोला—"मेरे साथ मायाचार....इसमें गुड़ की राब कहाँ है ?"

श्रेष्ठिपुत्र ने सोचा—"अहो ! इस थाल में घेवर, गुलाब-जामुन, मावे की मिठाई आदि कीमती मिष्ठान्न हैं और यह गुड़ की राब याद करता है। जरूर, इसने कभी इन मिठाइयों का आस्वादन नहीं किया लगता है, इसीलिए यह बालिश चेष्टा कर रहा है। तत्काल श्रेष्ठिपुत्र ने अवसर देख एक गुलाबजामुन हाथ में लिया और उसके मुँह में डाल दिया।

गुलाबजामुन का स्वाद आते ही उसने लाठी नीचे रख दी और थाली में पड़े सभी गुलाबजामुन झपाटे से खा गया। फिर श्रेष्ठिपुत्र ने उसको पूछा—"क्या अब राब लेनी है ?"

उसने कहा—"बस करो। उसकी बात छोड़ो।"

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति तभी तक संसार के क्षणिक सुखों में आनन्द पाना चाहता है, जब तक उसे आत्मा के वास्तविक सुख की अनुभूति नहीं होती है।

अन्त में, ग्रन्थकार महर्षि अपनी यही मनोकामना करते हैं कि विषयसुख से अतीत आत्मा के सुख में तुझे सदा प्रेम रहे।

इन्द्रियविषय सुख तो क्षणिक है, क्षणभंगुर है, उसमें आत्मा को वास्तविक तृप्ति का आनन्द नहीं हो सकता है।

विषयसुख से मुक्त जो आत्मा का सुख है, वही वास्तविक सुख है। उस सुख के आस्वादन में जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उसका वर्णन शब्दातीत है, वह तो अनुभूति का विषय है।

हे आत्मन् ! हे विनय ! तू उस सुख के रसास्वादन में डूब जा। □

5

अन्यत्व भावना

परः प्रविष्टः कुरुते विनाशं,
लोकोक्तिरेषा न मृषेति मन्ये।
निविश्य कर्माणुभिरस्य किं किं,
ज्ञानात्मनो नो समपादि कष्टम् ।। ५८ ।।
(उपजाति)

अर्थ—'अपने घर में अन्य का प्रवेश विनाश करता है,' मैं मानता हूँ कि यह लोकोक्ति गलत नहीं है। ज्ञानस्वरूप आत्मा में कर्म के परमाणुओं का प्रवेश हो जाने से आत्मा ने किन-किन कष्टों को प्राप्त नहीं किया है ? ।। ५८ ।।

विवेचन

कर्म आत्मा के लुटेरे हैं

आपके पास एक विशाल बंगला है। बंगले में अनेक कमरे हैं—शयन-गृह, अतिथि-गृह, स्नान-गृह, भोजन-गृह, पूजा-गृह आदि। बंगले में साज-सज्जा की अनेक वस्तुएँ दीवारों पर भी टंगी हुई हैं। मकान में तिजोरी भी है, जिसमें लाखों की सम्पत्ति है। इस प्रकार आधुनिक सुख-साधनों से सुसज्जित

आपके घर के द्वार पर एक अज्ञात व्यक्ति आता है। उस व्यक्ति से आप सर्वथा अपरिचित हैं, आपका कोई नाता-रिश्ता भी नहीं है। क्या आप उस व्यक्ति को अपने घर में प्रवेश दे देंगे ?

इसका जवाब आप 'ना' में ही दोगे। एक अज्ञात व्यक्ति को घर में प्रवेश कराना महान् आपत्ति का कारण बन सकता है। बम्बई जैसे शहरों में लगभग प्रत्येक घर के द्वार पर No admission without permission. का बोर्ड लगा हुआ रहता है। अपनी सुरक्षा के लिए व्यक्ति घर का द्वार अन्दर से बन्द ही रखता है। घंटी बजने के बाद परिचित व्यक्ति होने पर ही द्वार खोला जाता है और आगन्तुक व्यक्ति को प्रवेश दिया जाता है। 'अज्ञात व्यक्ति को घर में घुसा देने में खतरा रहता है।' इस लोकोक्ति से सारी दुनिया परिचित है और दुनिया भी इसी प्रकार का व्यवहार करती है।

बस, यही बात हमें आध्यात्मिक क्षत्र में भो घटित करनी है। अपनी आत्मा ज्ञान आदि अनन्त गुणरत्नों की भण्डार है। जहाँ कोमती रत्न आदि पदार्थ होते हैं, वहाँ चोरों के आगमन की सम्भावना अधिक रहती है, अतः उनकी सुरक्षा के साधन भी मजबूत चाहिये। लेकिन अफसोस ! हमने अपने आत्मधन की सुरक्षा की कोई परवाह नहीं की और इसका परिणाम क्या हुआ ?

आत्मधन की सुरक्षा के साधनों के न होने से चोरस्वरूप कार्मणवर्गणा के परमाणुओं ने आत्म-गृह में प्रवेश कर लिया और प्रवेश हो जाने के बाद तो उन्होंने तूफान मचाना चालू कर दिया। ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानधन को लूटता है, तो

दर्शनावरणीय कर्म आत्मा को अंध-बधिर आदि अवस्था में डाल देता है। वेदनीय कर्म आकर आत्मा को मरीज की शय्या पर सुला देता है। मोहनीय कर्म आकर आत्मा के क्षमा, नम्रता तथा सन्तोष आदि रत्नों को तहस-नहस कर देता है। आयुष्य कर्म आकर अमर आत्मा को मृत्यु-शय्या पर सुला देता है। नामकर्म आकर आत्मा को नरक-तिर्यंच आदि के आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म आत्मा को ऊँच-नीच स्थान देता है और अन्तराय कर्म आत्मा की शक्ति को ही दबा देता है।

इन कर्मपरमाणुओं ने आत्म-गृह में घुसकर कैसी खराबी की है? सर्वतंत्र-स्वतंत्र आत्मा पराधीनता की बेड़ियों से बंधी हुई है। अजर-अमर आत्मा क्षण-क्षण मृत्यु की वेदनाएँ भोग रही है।

क्या आप अपनी आत्मा की इस दुर्दशा से चिंतित हैं? तो आज ही इन कर्मशत्रुओं को अपने घर में प्रवेश करने से रोकिए। इन शत्रुओं को रोकने के लिए दृढ़ संकल्प करना पड़ेगा और सतत चौकसी रखनी पड़ेगी। □

खिद्यसे ननु किमन्यकथार्तः,
सर्वदैव ममता - परतन्त्रः।
चिन्तयस्यनुपमान्कथमात्मन्,
नात्मनो गुणमणीन्न कदापि ।। ५९ ।।

(स्वागता)

अर्थ—ममताधीन बनकर अन्य की उपाधिजन्य कथाओं से तुम व्यर्थ खेद क्यों पाते हो? और स्वयं के अनुपम गुणरत्नों का कभी विचार भी नहीं करते हो ।। ५९ ।।

विवेचन

ममता की पराधीनता

"अरे भाई ! तू इतना खेद क्यों पा रहा है ?"

"क्या कहूँ, उसने मेरे सौ रुपये चुरा लिए ।"

और "रमेश ! तू क्यों उदासीन है ?"

"आज मेरी कार का एक्सीडेंट हो गया । पूरी कार चकनाचूर हो गई ।"

"ओह सोहन ! तू इतना चिन्तित क्यों दिखाई दे रहा है ?"

"क्या करें, पत्नी नई साड़ी के लिए आग्रह कर रही है, किन्तु जेब में पैसे कहाँ है ?"

इस प्रकार देखेंगे तो सारी दुनिया चिन्तित, उदास और अप्रसन्न नजर आएगी । सभी समस्याओं से परेशान हैं, उन्हें सुलझाने के लिए सतत प्रयत्नशील भी हैं, परन्तु आश्चर्य है एक समस्या समाप्त होने के पूर्व ही नई समस्या खड़ी हो जाती है और इस प्रकार समस्याओं का कभी अन्त नहीं होता है ।

इस प्रकार चारों ओर समस्याओं से घिरे हुए व्यक्ति को पूज्य उपाध्यायजी म. सलाह दे रहे हैं कि तू व्यर्थ ही सांसारिक पदार्थों की ममता कर खेद पा रहा है, जरा विचार तो कर, क्या ये पदार्थ तेरे हैं ? पर की चिन्ता से तुझे क्या फायदा होने वाला है ? उन बाह्य पदार्थों की प्राप्ति तथा संरक्षण की चिन्ता कर तू व्यर्थ

ही अपने आपको कमजोर बना रहा है। क्षणिक व तुच्छ पदार्थों के विनाश से तू व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है। कुछ समय के लिए जरा सोच, तू उन पराये पदार्थों की क्यों चिन्ता करता है और आश्चर्य है कि अपने खुद के खजाने की ओर तू नजर भी नहीं डाल रहा है? ओह! कितने गुणरत्न तेरी आत्मा में भरे हुए हैं? इतने कीमती रत्नों का स्वामी होने पर भी तू दीन-हीन बन रहा है? मुझे तेरी मूर्खता पर हँसी आ रही है। छोड़ दे, इस पागलपन को। देख, अपने आत्म-खजाने को। उसकी तू चिन्ता कर, उसे कोई लूट न ले, अतः उसकी देख-रेख कर और बाह्य पदार्थों की चिन्ता छोड़ दे। □

यस्मै त्वं यतसे बिभेषि च यतो, यत्रानिशं मोदसे,
यद्यच्छोचसि यद्यदिच्छसि हृदा, यत्प्राप्य पेप्रीयसे।
स्निग्धो येषु निजस्वभावममलं निर्लोठ्य लालप्यसे,
तत्सर्वं परकीयमेव भगवन्नात्मन्न किञ्चित्तव ॥ ६० ॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—जिसके लिए तू निरन्तर प्रयत्न करता है, जिससे तू निरन्तर डरता है, जहाँ निरन्तर खुश होता है, जिन-जिन के लिए शोक करता है, जिन-जिन को हृदय से चाहता है और जिसे प्राप्त कर तू बारम्बार खुश होता है, अपने निर्मल आत्म-स्वभाव की उपेक्षा कर जिन पदार्थों में स्नेह कर जैसा-तैसा बोलता है (याद रख) हे भाग्यवान् आत्मा! वह सब दूसरों का है, उसमें तेरा कोई नहीं है ॥ ६० ॥

विवेचन

तेरा कौन ?

"अरे मोहन ! यह इतनी दौड़धूप किसलिए कर रहे हो ? थोड़ा भी आराम नहीं ?"

"तुम्हें पता नहीं है, अभी तो व्यापार की सीजन चल रही है। अभी मेहनत होगी तो कुछ ही दिनों में मैं लखपति बन जाऊंगा", मोहन ने रौब से जवाब दिया।

"अरे दिनेश ! तू इतना भयभीत क्यों है ?"

दिनेश ने उत्तर दिया—"मेरी जेब में ५०,००० रुपये हैं, अतः कोई चुरा न ले, इसका सतत भय रहता है।"

"ओह सोहन ! रोज तो सूखी रोटी खाते हो और आज इस होटल में नाश्ता-पानी ?"

"तुझे पता नहीं है, मुझे दो लाख की 'लॉटरी' खुल गई है।"

"अरे हरि ! इतने रो क्यों रहे हो ?"

"क्या कहूँ ? एकाकी पुत्र को यम ने उठा लिया है।"

"प्रिय राकेश ! आज इतने खुश कैसे नजर आ रहे हो ?"

"आज तो पुत्र की शादी है, बराबर पाँच लाख का माल····! आज खुश नहीं रहे तो फिर कब रहेंगे ?"

एक ही व्यक्ति के जीवन में प्रायः ये सब घटनाएँ देखने को

मिल सकती हैं। कभी व्यक्ति रोता है, कभी हँसता है, कभी शोक करता है, तो कभी मस्ती में पागल सा बन जाता है।

पूज्य उपाध्यायजी म. कहते हैं कि तू इतनी मेहनत करता है, कभी खुश होता है, कभी नाराज होता है, कभी रोता है, कभी हँसता है; तू इन सब विरोधी परिस्थितियों को भोगता है, परन्तु जरा विचार कर, तेरा यह सब प्रयत्न तो पर के लिए है। इसमें से तुझे अपना कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं है। तेरी यह सब मेहनत निष्फल जाने वाली है। आत्मा का जो निर्मल स्वभाव है, उसे पाने के लिए तो तेरा कुछ भी प्रयास नहीं है। उसके लिए तू प्रयास कर। □

दुष्टाः कष्टकदर्थनाः कति न ताः सोढास्त्वया संसृतौ,
तिर्यङ्नारकयोनिषु प्रतिहतश्छिन्नो विभिन्नो मुहुः।
सर्वं तत्परकीयदुर्विलसितं विस्मृत्य तेष्वेव हा,
रज्यन्मुह्यसि मूढ ! तानुपचरन्नात्मन्न किं लज्जसे ।।६१।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—इस संसार में महादुष्ट और कष्टकारी किन-किन कदर्थनाओं को तूने सहन नहीं किया है। तिर्यंच और नरकयोनि में बारम्बार मार खाई है, तुझे छेदा गया है, भेदा गया है, यह सब अन्य वस्तुओं का दुर्विलास ही है। अहो ! खेद है कि उसे भूलकर पुनः अन्य वस्तुओं में राग करता है। हे मूढ़ आत्मन् ! इस प्रकार की चेष्टा करते हुए तुझे लज्जा भी नहीं आती है।। ६१ ।।

विवेचन

पर-भाव में रमणता का परिणाम

चोर के संग से साहूकार भी चोर कहलाता है और उसे भी चोरी की सजा होती है। आत्मा ने पर-पदार्थों का संग किया, उनके साथ दोस्ती की, इसके फलस्वरूप उसे नरक में जाना पड़ा। परमाधामियों ने नरक में इस जीवात्मा का छेदन किया, भेदन किया। तपे हुए तेल में इसे तला। अपना ही मांस उसे खिलाया।

तिर्यंच योनि में जीवात्मा ने कम यातनाएँ सहन नहीं की है। गधे की योनि में उस पर मर्यादा से अधिक भार लादा गया। घोड़े की योनि में उसने चाबुकों की मार खाई। बकरे की योनि में उसे छुरी से काटा गया। चूहे की योनि में वह बिल्ली का शिकार बना।

दुनिया में ऐसी कोई यातना नहीं है, जो इस जीवात्मा ने सहन नहीं की हो। परन्तु प्रश्न होता है इन सब यातनाओं का कारण क्या? अनन्त सुख की भोक्ता आत्मा की संसार में यह दुर्दशा कि वह एक-एक दाने के लिए घर-घर भटके।

इसका प्रत्युत्तर पूज्य उपाध्यायजी म. देते हैं कि इन सब यातनाओं का एकमात्र कारण परकीय वस्तु का विलास ही है।

• संभूति मुनि स्व-साधना में तल्लीन थे। उत्कट तप की साधना कर उन्होंने आत्मानन्द की मस्ती प्राप्त की थी। परन्तु

अफसोस ! एक दिन सनत्कुमार चक्रवर्ती को पट्ट स्त्रीरत्न की केशलता का उन्हें स्पर्श हो गया और एक आश्चर्य बन गया। योग के साधक संभूति मुनि भोग के भिखारी बन गये और सोचने लगे—'अहो ! इस स्त्रीरत्न की केशलता का स्पर्श भी इतना सुहावना, सुकोमल और सुखदायी है तो इसके अंगस्पर्श में कितना आनन्द होगा ?'

बस, उसी समय उन्होंने उस स्त्रीरत्न की प्राप्ति के लिए योग की साधना को बेच देने का निर्णय कर लिया और यह निदान कर लिया कि 'मेरी इस तप-साधना का कोई फल हो तो आगामी भव में मुझे स्त्रीरत्न की प्राप्ति हो।'

तप के फलस्वरूप संभूति मुनि चक्रवर्ती बन भी गए, परन्तु फिर उसका परिणाम ? कहो—सातवीं नरकभूमि। सातवीं नरक की भयंकर यातनाओं में भी रागान्ध बना ब्रह्मदत्त 'कुरुमती' 'कुरुमती' चिल्ला रहा है।

संभूति मुनि एक स्त्रीरत्न के पर-भाव में लिप्त हुए तो उन्हे उसका परिणाम ७वीं नरकभूमि का निवास मिला।

धन में आसक्त बना मम्मण सेठ। धन आत्मा की सम्पत्ति नहीं है, वह आत्मा से पर है। उसमें मम्मण आसक्त बन गया। उसने अपनी सारी शक्ति का उपयोग उस धन के संरक्षण में किया। मरते दम तक उसका यही प्रयास रहा, परन्तु क्या उस धन ने उसे बचा लिया ?

नहीं। बचाना तो दूर रहा बल्कि सातवीं नरक भूमि में धकेल दिया।

पर-पुद्गल की आसक्ति से ही जीवात्मा की इस संसार में बुरी हालत हुई है, परन्तु फिर भी आश्चर्य है कि जीवात्मा पुनः-पुनः उसी पुद्गल की ओर भागता है।

जैसे सजा पाने के बावजूद भी चोर की नजर पर-धन की ओर ही होती है और व्यभिचारी की नजर परस्त्री की ओर ही होती है, इसी प्रकार पर-भाव के संग से आत्मा ने अत्यन्त दुःख ही पाया है, फिर भी पर-भाव में रमण की उसकी यह आदत छूट नहीं रही है।

इतना दुःख पाने के बावजूद भी पर-भाव में रमण करते हुए उसे तनिक भी लज्जा नहीं आती है। □

ज्ञानदर्शनचारित्रकेतनां चेतनां विना।
सर्वमन्यद् विनिश्चित्य यतस्व स्वहिताप्तये ।। ६२ ।।
(अनुष्टुप्)

अर्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के चिह्न वाली वस्तुओं को छोड़कर अन्य सब वस्तुएँ पर हैं, ऐसा निर्णय कर स्वहित की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो ।। ६२ ।।

विवेचन

पर-भाव से मुक्त बनने के लिए स्व और पर की भेदरेखा जानना अत्यन्त आवश्यक है। स्वर्ण-चांदी-तांबे आदि के गुणों को अच्छी तरह जाने बिना व्यक्ति स्वर्ण की सत्य-परीक्षा नहीं कर सकता है। मात्र पीलापन देखकर स्वर्ण को खरीदने वाला स्वर्ण के बदले पीतल भी खरीद सकता है। अतः वस्तु की सत्य परीक्षा के लिए उसके दोनों पहलुओं को जानना आवश्यक है।

अपनी आत्मा को परभाव से मुक्त बनाने के लिए पूज्य उपाध्यायजी म. अब आत्मा का लक्षण बतलाते हैं तथा साधक को किन-किन वस्तुओं में प्रवृत्ति करनी चाहिये और किन-किन से उसे निवृत्त होना चाहिये, यह भी प्रस्तुत गाथा में बतला रहे हैं।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के जनक जो साधन हैं, उनके प्रति प्रशस्त राग रखना चाहिये और उनसे जो अन्य हैं, उन्हें पर समझना चाहिये।

इस प्रकार स्व और पर का भेद समझकर आत्मसाधक प्रवृत्ति में लीन बनने और आत्मघातक प्रवृत्ति से दूर रहने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिये।

'अन्यत्व भावना' का उद्देश्य भी यही है कि जो स्व स्वरूप से अन्य (पर) है, उसे जानकर उसका त्याग करना चाहिये।

'नवतत्त्व' में बतलाया गया है कि—

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरिअं उवओगो य एवं जीवस्स लक्खणं॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग यही जीवात्मा का लक्षण है, इसके सिवाय अन्य सब वस्तुएँ पर हैं। पर-वस्तु का संग आत्मा के गुणों का घातक है; आत्मा के लिए अहितकर है। अतः उनके संग का त्याग कर स्व स्वरूप (स्व गुणों) की साधना के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिये।

□

पञ्चम भावनाष्टकम्

(गीतम्)

विनय निभालय निज - भवनं ,
विनय निभालय निज-भवनं ।
तनु - धन - सुत - सदन - स्वजनादिषु ,
किं निजमिह कुगतेखनम् ? ।।विनय० ६३।।

अर्थ—हे विनय ! तू अपने घर की (अच्छी तरह से) देखभाल कर ले । तेरे शरीर, धन, पुत्र, मकान तथा स्वजन आदि में से कोई भी तुझे दुर्गति में जाने से बचाने वाला नहीं है ।। ६३ ।।

विवेचन

दुर्गति से कौन बचाएगा ?

'अन्यत्व भावना' अर्थात् 'मैं' शरीर, पुत्र, परिवार आदि से भिन्न (अन्य) हूँ । 'मैं' आत्मा हूँ, 'मैं' अकेला हूँ और 'मेरा कोई नहीं है' इत्यादि चिन्तन करना । प्रतिदिन सोने के पूर्व 'संथारा-पोरिसि' के माध्यम से इस भावना का भावन करना चाहिये ।

एगोऽहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ ।

अर्थात् मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और न मैं किसी का हूँ।

आत्मा और पुद्गल द्रव्य सर्वथा भिन्न हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह आत्मा का लक्षण है तथा शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि पुद्गल के लक्षण हैं। इस प्रकार दोनों तत्त्व सर्वथा भिन्न होने पर भी मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से जीवात्मा देह आदि में ही आत्मबुद्धि कर लेती है, अर्थात् देह को ही वह आत्मा समझती है। यह अज्ञानी आत्मा की बहिरात्मदशा है। इस अवस्था में आत्मा देह, पुत्र, परिवार आदि पर तीव्र आसक्ति वाली होती है।

आत्मा के इस अनन्त परिभ्रमण का एकमात्र कारण 'बहिरात्मदशा' ही है। चरमावर्त में प्रवेश के बाद जीवात्मा में धर्म-प्राप्ति की कुछ योग्यता आती है। सद्गुरु के समागम से 'आत्मा देह से भिन्न है' इस प्रकार का उसे ज्ञान होता है और धीरे-धीरे आत्मस्वरूप की पहिचान से बहिरात्म दशा का त्याग कर आत्मा 'अन्तरात्मदशा' प्राप्त करती है।

अन्तरात्मदशा की प्राप्ति के बाद भी तीव्र राग आदि के उदय से आत्मा पुनः बहिरात्मदशा में भी आ सकती है, अथवा पुनः पतन के अभिमुख भी जा सकती है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

ध्वंस बहुत आसान है, मगर निर्माण कठिन है।
पतन बहुत आसान है, मगर उत्थान कठिन है॥

सम्यक्त्व आदि उत्थान का मार्ग है, अतः चढ़ना अत्यन्त

कठिन है और चढ़कर पुनः स्थिर रहना और भी अत्यन्त कठिन है। बर्फीली चट्टान पर चढ़ना कठिन है, एक-एक कदम आगे बढ़ाना भी अत्यन्त कठिन है और आगे बढ़ने के बाद उस कदम पर स्थिर रहना भी सरल काम नहीं है। वहाँ पतन की सतत सम्भावना रहती है, इसी प्रकार सम्यक्त्व की चट्टान पर आरोहण करने में भी अनेक समस्याएँ आती हैं। यह चढ़ाव अत्यन्त ही कठिन है।

सम्यक्त्व की चट्टान पर चढ़ने के लिए और उस पर स्थिर रहने के लिए प्रतिदिन अन्यत्व आदि भावनाओं से आत्मा को भावित करना चाहिये।

पूज्य उपाध्यायजी म. ने मुमुक्षु आत्माओं के लिए ही इन भावनाओं को रचना की है।

अब चलो, अन्यत्व भावना के गेयाष्टक के गीत में लयलीन बनकर उसका रसास्वादन भी कर लें—

पूज्य उपाध्यायजी म. सर्वप्रथम देह, धन, पुत्र, मकान आदि की मूर्च्छात्याग के लिए उनके वास्तविक स्वरूप का निरूपण करते हुए आत्मसम्बोधनपूर्वक कहते हैं कि—

हे विनय! तू देह, धन, मकान आदि में इतना मूर्च्छित क्यों हो रहा है? तू कहता है—'यह देह मेरा है।'

इस प्रकार देह में ममत्वबुद्धि कर उसके पीछे पागल बन गया है। उसकी पुष्टि के लिए अनेक प्रकार की हिंसक रासायनिक दवाएँ लेता है। थोड़ी सी बीमारी में 'हाय-हाय' प्रारम्भ कर देता है। सख्त वेदना में 'मैं मर गया' 'मैं मर

गया', इस प्रकार के क्रन्दन करता है। इस देह की शोभा के लिए अनेक प्रकार के सौन्दर्य-प्रसाधक हिंसक साधनों का उपयोग करता है।

किन्तु जरा सोच ! क्या यह देह अन्त में तेरा साथ देने वाला है ? क्या यह देह परलोक में साथ जाएगा ? क्या यह देह दुर्गति में जाने से रोक देगा ?

कदापि नहीं। यह देह तो अन्त में धोखा ही देने वाला है।

यह देह चौबीस घंटे तुम्हारी सेवा लेता है और तुम्हारे लिए (आत्मा के लिए) कुछ भी करने के लिए तैयार नहीं है।

अतः इस देह की ममता को छोड़ दो। जिस धन की प्राप्ति और उसके संरक्षण के लिए इतनी मेहनत कर रहे हो, किन्तु ध्यान रखो, तुम्हारी यह सब मेहनत व्यर्थ जाने वाली है। तुमने धन के लिए खून का पसीना किया, किन्तु वह धन तुम्हारे पीछे आँसू की दो बूंदें भी गिराने वाला नहीं है। इस धन का विश्वास छोड़ दो।

पुत्र की भी इतनी ममता क्यों करते हो ? इस धरती पर जिस पुत्र को चौबीस घंटे साथ में लेकर घूमते हो अथवा वह तुम्हारे साथ रहता है, किन्तु परलोक की महायात्रा के प्रयाण के समय वह तुम्हारे साथ आने वाला नहीं है, वहाँ तो तुम्हें अकेला ही जाना पड़ेगा। अतः पुत्रादि सन्तान की मूर्च्छा का त्याग कर दो, वे तुम्हें दुर्गति में जाने से रोकने में समर्थ नहीं हैं।

अपने विशाल बंगले की भी तू व्यर्थ ही ममता करता है। तेरा यह बंगला तो एक दिन खण्डहर हो जाएगा अथवा तुझे उसे छोड़कर जाना पड़ेगा। वह भी तुझे दुर्गति में जाने से रोक नहीं सकता है।

स्व जन आदि की भी तू व्यर्थ ही ममता करता है। उनमें से कोई भी तेरा नहीं है और न ही वे तुझे दुर्गति में जाने से बचा सकते हैं। अतः हे आत्मन्! तू अपने स्वरूप का विचार कर। परलोक-प्रयाण समय ये सांसारिक सामग्रियाँ तेरा कुछ भी संरक्षण करने में समर्थ नहीं हैं।

भोजन, धन, पुत्र, पत्नी तथा देह पर सामान्यतः जीवात्मा को क्रमशः अधिक-अधिक प्रेम होता है। परन्तु ज्ञानियों का वचन है कि उन वस्तुओं को अपना मान लेने पर भी उनमें से एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो जीवात्मा को दुर्गति में जाने से रोक सके।

हे आत्मन्! यह जीवन तो अल्प समय के लिए है, कुछ समय बाद तो तुझे यहाँ से जाना ही पड़ेगा और परलोक-प्रयाण के साथ ही तेरे ये सम्बन्ध टूट जाएंगे। फिर तू व्यर्थ उनके ममत्व का पोषण क्यों कर रहा है?

सावधान बन जा।

जीवन अल्प है। □

येन सहाश्रयसेऽतिविमोहा-
दिदमहमित्यविभेदम् ।
तदपि शरीरं नियतमधीरं,
त्यजति भवन्तं धृतखेदम् ।। विनय० ६४ ।।

अर्थ—'यह मैं ही हूँ' इस प्रकार इस शरीर के साथ एकता कर जिसका तूने आश्रय लिया है, वह शरीर तो अत्यन्त अधीर है और कमजोर हो जाने पर वह तुझे छोड़ देता है ।। ६४ ।।

विवेचन

देह की ममता तोड़ो

हे विनय ! तू अपनी देह का निरीक्षण कर। ओह ! जो शरीर तेरा नहीं है, उसके साथ तूने एकता सिद्ध कर ली है। याद रख, वह तुझे अन्त में धोखा दिए बिना नहीं रहेगा। यह देह तो आत्मा की शत्रु है। दुनिया में शत्रु को मित्र मानकर चलने वाला हमेशा धोखा ही खाता है।

इस देह की गुलाम बनी आत्माएँ पतन के गर्त में ही गिरी हैं। दुनिया में अधिकांश हिंसा, झूठ आदि जो पाप हैं, वे सब इस देह के ममत्व के कारण ही हैं।

महापुरुषों ने ठीक ही कहा है—"देह के पोषण में आत्मा का शोषण है।" **"दशवैकालिक"** की यह निम्नलिखित पंक्ति हमें सुन्दर बोध देती है—**'देहदुक्खं महाफलं'**।

समतापूर्वक देह को दिया गया कष्ट महाफल का कारण है।

राजा ने मुनि की चमड़ी उतारने का आदेश दिया और जल्लाद तत्काल मुनि के पास पहुँच गए। जल्लादों ने मुनि को राजा की आज्ञा सुनाई, तब मुनि अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर बोले—

'ए तो वली सखाइ मलीओ, भाई थकी भलेरो रे।'

जल्लाद खन्धक मुनि की चमड़ी उतारने के लिए आए हुए हैं और मुनि सोचते हैं—"अहो ! यह तो मेरे लिए कर्म खपाने का स्वर्णिम अवसर आ गया। यह राजा तो मेरे भाई से भी बढ़कर है, जो मेरी चमड़ी उतारने के बहाने मेरी आत्मा के बन्धन ही तोड़ देगा। यह मेरी औदारिक देह के नाश के बहाने मेरी आत्मा के बन्धन रूप कार्मण शरीर का नाश कर रहा है। ओह ! यह राजा मेरा कितना उपकारी है।"

मुनि उन जल्लादों को भी कहते हैं—

राय सेवक ने तव कहे मुनिवर,
कठण फरस मुज काया रे।
बाधा रखे तुम हाथे थाये,
कहो तिम रहीये भाया रे॥

मुनि कहते हैं : "तप के कारण मेरी काया कृश बनी हुई है, मेरी चमड़ी अत्यन्त कठोर हो गई है, अतः भाई ! तू कहे वैसे मैं खड़ा रहूँ।"

कितनी निर्ममता रही होगी मुनिराज की स्व देह पर ? तभी तो उन्हें अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई और वे आत्मा के शाश्वत सुख के भोक्ता बन गए।

अतः हे आत्मन् ! यदि तू परम आनन्द का आस्वादन करना चाहता है तो इस देह में आत्मबुद्धि का त्याग कर दे। देह का गुलाम बनने के बजाय इसका मालिक बन जा और इसे आत्म-साधना का साधन बना ले। □

जन्मनि जन्मनि विविध - परिग्रह-
मुपचिनुषे च कुटुम्बम् ।
तेषु भवन्तं परभवगमने ,
नानुसरति कृशमपि सुम्बम् ।। विनय० ६५ ।।

अर्थ—जन्म-जन्म में तूने विविध परिग्रह और कुटुम्ब का संग्रह किया है। पर-भवगमन के समय उसमें से छोटे से छोटा रुई का टुकड़ा भी तेरे साथ गमन नहीं करता है ।। ६५ ।।

विवेचन

परलोक में कुछ भी साथ नहीं चलता है

अपनी आत्मा के भूतकाल की ओर जरा दृष्टिपात करें। उसमें क्या दिखाई दे रहा है ?

अहो ! हर जन्म में मैंने जिस-जिस शरीर को धारण किया है, उन्हें इकट्ठा किया जाय तो सैकड़ों मेरुपर्वत के ढेर हो जायें।

अहो ! हर जन्म में जो माता-पिता किए हैं, उन्हें इकट्ठा किया जाय तो केवलज्ञानी भी उनकी गिनती नहीं कर पाएगे, आखिर वे भी अनन्त ही कहेंगे।

जन्म-जन्मान्तरों में मूर्च्छा से जिस धन का संग्रह किया था, उसका हिसाब लगाया जाय तो एक लाख योजन की ऊँचाई वाला स्वर्ण का मेरुपर्वत भी शर्मिन्दा हो जाय।

इस जीवात्मा ने प्रत्येक जीवन में जिन मकानों का निर्माण

किया है, उन्हें एक-दूसरे के ऊपर चढ़ाया जाय तो वह भवन एक राजलोक से भी ऊँचा हो जाय।

आज तक यह जीवात्मा जितनी सन्तानों का बाप बना है, उसका तो वर्णन ही अशक्य है।

क्षुधा-तृप्ति के लिए आज तक जो भोजन किया है, उसको समाने के लिए राजलोक भी छोटा पड़ता है।

एक चूहे को भी धन के प्रति कितनी मूर्च्छा होती है, इसका ज्वलन्त उदाहरण कुमारपाल की वनयात्रा है—

• कुमारपाल ने देखा—'एक चूहा अपने बिल में से सोना मोहर निकाल कर बाहर ला रहा है। बराबर बीस सोना मोहर थी। चूहा ज्योंही बिल में गया, कुमारपाल ने कुछ सोना मोहरें उठा लीं। चूहे ने आकर अनुमान किया—'सोना मोहर कम कैसे ?'

चूहा सोना मोहर के लिए तड़पने लगा और उसने अपने प्राण खो दिए।

इस प्रकार हर भव में हमने मूर्च्छा से धन का संग्रह किया। किसी भव में धन तो साथ आया नहीं, किन्तु उसकी मूर्च्छा सदा साथ रही और उस मूर्च्छा के परिणामस्वरूप सर्वतंत्र-स्वतंत्र आत्मा को अनन्त बार गर्भावास का कैदी बनना पड़ा।

आज तक हम अनन्त धन छोड़कर आए हैं, अनन्त परिवार हमें छोड़ने पड़े हैं, परन्तु उनमें से कोई भी महाप्रयाण के समय साथ में नहीं चला है। धन का ढेर तो दूर रहा किन्तु एक

तृण भी साथ में नहीं चला है, तो फिर निरर्थक निस्सार धन की इतनी अधिक ममता क्यों ? □

त्यज ममता-परिताप-निदानं ,
पर - परिचय - परिणामम् ।
भज निःसङ्गतया विशदीकृत-
मनुभवसुख - रसमभिरामम् ।। विनय० ६६ ।।

अर्थ—ममता और सन्ताप के कारणभूत पर-परिचय के परिणाम (अध्यवसाय) का तू त्याग कर दे और निस्संग बनकर अत्यन्त निर्मल अनुभव सुख का आस्वादन कर ।। ६६ ।।

विवेचन

निस्सङ्गता का आनन्द

पूज्य उपाध्यायजी म. जीवात्मा के परिताप और सन्ताप का कारण एवं उसके निदान को बतलाते हुए फरमाते हैं कि संसार की इस अनन्त यात्रा में जीवात्मा ने जो यातनाएँ सहन की हैं....जो दुःख सहन किया है....जो परिताप सहन किया है.... उसका एकमात्र कारण पर-पदार्थ का परिचय और उसकी ममता है ।

जिन आत्माओं ने पर-भाव की रमणता का त्याग किया, उनको छह खण्ड का आधिपत्य भी बाँध नहीं सका ।

भरत महाराजा छह खण्ड के अधिपति थे, हजारों रानियों के स्वामी थे किन्तु उनके हृदय में ममत्व भाव नहीं था, अतः

पर-भाव रमणता के त्यागस्वरूप आत्म-परिणति के कारण उन्हें आदर्श-भवन (काँच के भवन) में ही केवलज्ञान हो गया और जो ममता से ग्रस्त रहे, उनके पास फूटी कौड़ी न होने पर भी वे सातवें नरक में चले गए। आत्मा के संसार और मोक्ष का एकमात्र आधार उसकी ममता और निर्ममता ही है।

वास्तव में, ममत्व ही बन्धन है। ममत्व के बंधन के कारण ही आत्मा संसार में भटकी है और उससे मुक्त होने पर सर्वथा मुक्त बनी है।

अतः हे आत्मन्! तू बाह्य पदार्थों की इस ममता का त्याग कर दे। तू निस्संग बन जा। तू निर्ग्रन्थ बन जा। तू विरक्त बन जा और इसके साथ ही अत्यन्त निर्मल और मनोहर अनुभव सुख का रसास्वादन कर।

परमात्मा ने आत्मा के आनन्द स्वरूप का जो वर्णन किया है, उसके श्रवण में भी आनन्द का अनुभव होता है, उसके वर्णन में आनन्द है। जब उसका वर्णन भी आनन्द देने वाला है तो उसके स्वानुभव में कितना आनन्द होगा? यह तो अनुभवी व्यक्ति ही जान सकते हैं।

बाह्य भाव से अलिप्त बनकर जब आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, तब आत्मा में से आनन्द के स्रोत का बहना प्रारम्भ हो जाता है। उसके रसास्वादन के बाद सांसारिक आनन्द तृण समान प्रतीत होने लगते हैं। □

पथि-पथि विविधपथैः पथिकैः सह,
कुरुते कः प्रतिबन्धम्?
निज-निजकर्मवशैः स्वजनैः सह,
किं कुरुषे ममताबन्धम्? ।। विनय० ६७ ।।

अर्थ—अलग-अलग विभिन्न मार्गों में अनेक पथिक मिलते हैं, परन्तु उनके साथ मैत्री कौन करता है ? प्रत्येक स्वजन अपने-अपने कर्म के पराधीन है, अतः उनके साथ तू व्यर्थ ही ममता क्यों करता है ? ।। ६७ ।।

विवेचन

परिवार पंखीमेला है

आपने बस में यात्रा की होगी....रेल में यात्रा की होगी.... दूर-सुदूर के प्रदेशों में आप गये होंगे....शायद पैदल-विहार भी किया होगा। इन यात्राओं के बीच आज तक हजारों लोगों को देखा होगा....अनेक से एक-दो मिनट की बात भी की होगी, परन्तु उनका स्नेह-सम्बन्ध कब तक रहता है ? अल्प समय के लिए ही तो।

रेल में सैकड़ों लोगों से मिलते हैं, पाँच-पच्चीस से बातचीत भी करते हैं, परन्तु उनका प्रेमसम्बन्ध कब तक ? जब तक आपका या उनका स्टेशन नहीं आता है तभी तक तो। ज्योंही आपका स्टेशन आया, आप नीचे उतर जाते हैं और घर पहुँचते-पहुँचते तो उन सहयात्रियों को भूल भी जाते हैं। उनसे कोई नाता नहीं, कोई रिश्ता नहीं, कोई याद नहीं, कोई फरियाद नहीं। आप उन्हें भूल जाते हैं और वे आपको भूल जाते हैं। फिर क्या पता, इस जीवन में पुनर्मिलन होगा भी या नहीं।

बस, अपनी आत्मा की इस अनन्त-यात्रा में हमें भी अनेक पथिक मिले हैं और मिल रहे हैं। कोई भाई के रूप में है तो कोई बहिन के रूप में, कोई माता के रूप में है तो कोई पिता के रूप में। परन्तु आखिर तो सब पथिक हैं।

जैसे मार्ग में किसी पथिक का चेहरा ही देखते हैं तो किसी से दो मिनट बात भी करते हैं और किसी के साथ नाश्ता भी कर लेते हैं।

बस, इस संसार में भी अनेक का हम मात्र चेहरा ही देख पाते हैं और अनेक के साथ चार दिन-बीस दिन रहते भी हैं, परन्तु आखिर तो हम पथिक हैं। विश्रामगृह में कब तक ठहर सकते हैं। कुछ समय बाद तो उसे छोड़ना ही पड़ता है। बस, इसी प्रकार से यह जीवन भी विश्रामगृह की भाँति है। यहाँ स्वजन कुटुम्ब आदि का जो मेला है, वे सब अलग-अलग मार्ग के पथिक हैं। अतः अल्प समय के लिए ही सबका मिलन होता है, फिर तो सब अपनी-अपनी दिशा में आगे बढ़ेंगे ही।

स्व-स्व कर्म के अनुसार स्वजन-कुटुम्ब का यह पंखीमेला है। यह पंखीमेला तो प्रातःकाल होते ही बिखर जाने वाला है।

अतः हे आत्मन्! तू व्यर्थ ही स्वजन-कुटुम्ब में राग क्यों कर रहा है? उनके राग से तुझे कुछ भी फायदा होने वाला नहीं है। व्यर्थ में तू राग कर अपनी आत्मा को ही बन्धनग्रस्त बना रहा है।

ममता के इस बन्धन को तू छोड़ दे और मुक्त पंखी की भाँति स्वतंत्र बन जा। □

प्रणयविहीने दधदभिष्वङ्गं,
सहते बहुसन्तापम्।
त्वयि निःप्रणये पुद्गलनिचये,
वहसि मुधा ममतातापम्॥ विनय० ६८॥

अर्थ—जिसे अपने प्रति प्रेम नहीं है, उससे प्रेम करने में अनेक सन्ताप सहन करने पड़ते हैं। इन पुद्गलों के समूह को तेरे प्रति कोई प्रेम नहीं है। तू व्यर्थ ही ममता की गर्मी वहन कर रहा है ।। ६८ ।।

विवेचन

मैत्री समान से होती है

पतंगा अग्नि से प्रेम करना चाहता है, उसका आलिंगन करना चाहता है, उसके हृदय में अग्नि के प्रति अपार स्नेह है, परन्तु वह प्रेम एकांगी है, अग्नि के हृदय में उसके प्रति कोई प्रेम नहीं है। अतः अग्नि और पतंगे का प्रेम कैसे टिक सकता है? पतंगा ज्योंही अग्नि का संग करता है, त्योंही अग्नि उसे जलाकर भस्मीभूत कर देती है।

जैसे दोनों हाथों से ताली बजती है, उसी प्रकार प्रेम भी तभी टिकता है, जब वह दोनों ओर से होता है। एकांगी प्रेम अल्पजीवी और अस्थिर होता है।

इसी प्रकार तू पौद्गलिक पदार्थ से प्रेम करता है। तू धन से प्रेम करता है, मकान से प्रेम करता है, मोटर से प्रेम करता है। परन्तु क्या तूने कभी यह सोचा है कि तेरी यह प्रीति एकपक्षीय है अतः यह प्रेम टिकने वाला ही नहीं है। तू धन से प्रेम करता है किन्तु धन तुझसे प्रेम नहीं करता है, तू बंगले को चाहता है किन्तु बंगला तुझे नहीं चाहता है। अतः एकपक्षीय प्रीति कैसे टिक सकती है!

प्रेम वही दृढ़ बनता है, जहाँ दोनों की प्रकृति एक हो।

परन्तु जरा विचार कर, तू तो आत्मा है, ज्ञान-दर्शन और चारित्र तेरा स्वभाव है और तू भिन्न स्वभाव वाले पुद्गल से प्रेम करता है। पुद्गल का स्वभाव तो सड़न-गलन का है।

तू अविनश्वर है, वह नश्वर है।

तू शाश्वत है, वह क्षणिक है।

तू सुख का महासागर है और उसे सुख से लेना-देना नहीं है।

तू चेतन है और वह अचेतन है।

अतः जो तेरा नहीं है और तुझसे सर्वथा भिन्न है, उसके (पुद्गल के) साथ व्यर्थ ही ममता कर अपने आपको परेशान करता है। □

त्यज संयोगं नियत - वियोगं,
कुरु निर्मल - मवधानम्।
नहि विदधानः कथमपि तृप्यसि,
मृगतृष्णाघनरसपानम् ।। विनय० ६९ ।।

अर्थ—जिनका अन्त में अवश्य वियोग होने वाला है उन संयोगों का तुम त्याग कर दो और निर्मल भाव करो। मृग-तृष्णा के जल का कितना ही पान किया जाय, उससे कभी तृप्ति होने वाली नहीं है ।। ६९ ।।

विवेचन

संयोग में राग दुःख का कारण है

महापुरुषों के इस कथन को याद करो—

'संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुःखपरम्परा।'

संसार में जीवात्मा ने संयोग (सम्बन्ध) के कारण ही दुःख की परम्परा प्राप्त की है।

पंचसूत्र में कहा है—

'संजोगो वियोगकारणम्।'

संयोग वियोग का कारण है। परन्तु जीवात्मा ने इस सत्य को स्वीकार नहीं किया, बल्कि इस संसार में जो-जो संयोग मिले, उन्हें शाश्वत मानकर उसके राग में आसक्त बन गया।

धन का संयोग हुआ, उससे राग किया, उसमें आसक्त बन गया।

पुत्र-परिवार आदि मिले, उसमें आसक्त बना।

इसके साथ ही आश्चर्य तो यह है कि जीवात्मा धन के अभाव को सहन कर लेगा, किन्तु उसकी प्राप्ति के बाद उसके वियोग को सहन करने में समर्थ नहीं होता है। धन के अभाव में कठिनाई से भी जीवन निर्वाह चला लेगा किन्तु करोड़पति बनने के बाद रोडपति (भिखारी) बनना उसे स्वीकार नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक संयोग को आसक्ति के कारण जीवात्मा ने भयंकर पापकर्मों का ही सर्जन किया है।

अतः हे आत्मन्! जिनका अवश्य ही वियोग होने वाला है, उनका पहले से ही त्याग कर दे और अपने आत्मस्वरूप के साथ एकाग्रता धारण कर ले। मृगतृष्णा के जल का कितना ही पान किया जाय, उससे तृप्ति होने वाली नहीं है।

ग्रीष्म ऋतु में जब हवा गर्म हो जाती है तब रेगिस्तान में दूर से ऐसा प्रतीत होता है मानों पानी का प्रवाह बह रहा हो।

परन्तु वह तो मृगमरीचिका ही है। वह एकमात्र भ्रम ही है। वहाँ जाने से जल की एक बूंद भी मिलने वाली नहीं है। बेचारा मृग! उस मृगतृष्णा में जल की कल्पना कर भागता है, दौड़ता है; परन्तु अन्त में उसे निराश ही होना पड़ता है।

यदि तू निराशा नहीं चाहता है तो संयोग-सम्बन्ध की ममता का त्याग कर निर्ममत्व भाव को धारण कर। □

भज जिनपतिमसहाय - सहायं,
शिवगति - सुगमोपायम्।
पिब गदशमनं परिहृतवमनं,
शान्तसुधारसमनपायम् ।। विनय० ७० ।।

अर्थ—असहाय की सहायता करने वाले जिनेश्वरदेव को तुम भजो, यही मुक्ति-प्राप्ति का सरल उपाय है। शान्तसुधारस का तू पान कर, जो रोग का शामक है, वमन को दूर करने वाला है और अविनाशी है ।। ७० ।।

विवेचन

शिवगति का उपाय

परमेष्ठि-भगवन्तों की शरणागति का स्वीकार मुक्ति-प्राप्ति का सुगम उपाय है। जिनेश्वर परमात्मा करुणा के महासागर हैं। वे सतत करुणा की वर्षा कर रहे हैं। जो भव्यात्मा जिनेश्वर परमात्मा की शरणागति स्वीकार कर लेती है, वह सनाथ बन जाती है और जिन्होंने जिनेश्वरदेव की शरणागति स्वीकार नहीं की है, वह छह खण्ड की अधिपति चक्रवर्ती होते हुए भी अनाथ ही है। अनाथ में से सनाथ बनने का एकमात्र उपाय है—परमेष्ठिभगवन्तों की शरणागति का स्वीकार।

परमेष्ठि-शरणागति के बाद आत्मा निर्भय बन जाती है।

परमेष्ठि-शरणागति के साथ-साथ तू शान्तसुधारस का अमीपान कर।

इस शान्तसुधारस (अमृत रस) के तीन गुण हैं—(१) इससे समस्त व्याधियों का उपशमन हो जाता है। रोग के उपशमन से आत्मा शान्त बनती है और आरोग्य का अनुभव करती है।

(२) यह अमृतरस वमन को दूर करने वाला है। इन्द्रियों के विकार वमनस्वरूप हैं, शान्त अमृतरस के पान से इन्द्रियों के विकार दूर हो जाते हैं।

(३) यह शांतरस पीड़ारहित है। इसके पान में किसी प्रकार की तकलीफ नहीं रहती है। इस सुधारस के पान के बाद आत्मा अमर बन जाती है, विनाश के भय से वह सर्वथा मुक्त बन जाती है।

यह शान्तसुधारस तो अमृतरस का पान है।

भोजन करने पर क्षुधा की तृप्ति होती है। पानी पीने पर तृषा शान्त होती है, औषधि का सेवन करने पर रोग नष्ट होता है, इसी प्रकार जो आत्मा इस शान्तसुधारस का पान करती है, वह अमृतस्वरूप बन जाती है। जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त बनकर परम पद प्राप्त कर लेती है। परमपद की प्राप्ति के बाद आत्मा अमर बन जाती है, फिर उसे न जन्म की पीड़ा रहती है और न ही मरण की। आत्मा शाश्वतकाल तक परमानन्द का अनुभव करती है। □

6

अशुचि भावना

सच्छिद्रो मदिराघटः परिगलत्तल्लेशसंगाशुचिः,
शुच्यामृद्य मृदा बहिः स बहुशो, धौतोऽपि गङ्गोदकैः ।
नाधत्ते शुचितां यथा तनुभृतां कायो निकायो महा-
बीभत्सास्थिपुरीषमूत्ररजसां नायं तथा शुद्धयति ।।७१।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—छोटे-छोटे छिद्रों से युक्त शराब के घड़े में से धीरे-धीरे शराब की बूंदें बाहर निकल कर घड़े के बाह्य भाग को भी अपवित्र कर देती हैं। उस बाह्य भाग में सुन्दर मिट्टी का मर्दन किया जाय अथवा गंगा के पवित्र जल से उसे बारम्बार धोया जाय, फिर भी वह पवित्र नहीं बनता है, उसी प्रकार अति बीभत्स हड्डी, मल-मूत्र तथा रक्त के ढेर समान यह मानव देह भी मात्र स्नानादि से पवित्र नहीं बनता है ।। ७१ ।।

विवेचन

अशुचि से भरा शरीर

दुनिया में एक शौचवादी धर्म है जो मात्र शरीर-शुद्धि पर

अत्यधिक भार देता है। वह शरीर की शुद्धि से ही मुक्ति पाना चाहता है। परन्तु इस प्रकार के शौचवाद से कभी कर्म-मुक्ति सम्भव नहीं है।

'प्रशमरति' ग्रन्थ में एक शौचवादी ब्राह्मण की बात आती है, जो इस प्रकार है—

• किसी नगर में एक ब्राह्मण रहता था, जो अत्यन्त ही शौचवादी था। थोड़ी सी भी अशुद्धि होने पर वह स्नान कर शरीर की शुद्धि करता था।

एक बार वह अपने घर से निकला। मार्ग में एक हरिजन झाड़ू निकाल रहा था। झाड़ू से उड़ी कुछ धूल उस ब्राह्मण पर आ गई। झिझककर वह ब्राह्मण बोला—'तेरी इस धूल ने मुझे अपवित्र बना दिया।'

हरिजन ने कहा—"वाह! इस धूल से आप अपवित्र हो गए? तब तो इस मार्ग पर बहुत से अपवित्र लोग भी चलते हैं, अतः उन सबसे स्पर्श पाई हुई धूल पर आपके चलने से आप भी अपवित्र हो जाओगे?" शौचवादी ब्राह्मण ने सोचा—"बात तो इसकी सत्य है, इस प्रकार यहाँ रहने से तो मैं अपवित्र हो जाऊंगा, अतः मुझे ऐसे स्थान पर चले जाना चाहिये, जहाँ कोई मनुष्य ही नहीं रहता हो।"

उसने अपने परिवारजनों से बात कही। सभी ने कहा—"इस प्रकार की पवित्रता का आग्रह मत रखो, ऐसी पवित्रता कहीं भी सम्भव नहीं है।"

लेकिन हठाग्रही उस ब्राह्मण ने किसी की बात नहीं सुनी

और उसने एक दिन नाविक को कहा—'क्या तुम ऐसे टापू से परिचित हो, जहाँ कोई मनुष्य नहीं रहता हो ?'

उसने कहा—"हाँ, एक टापू मेरे ख्याल में है।

वह ब्राह्मण नाव में बैठ गया और एकान्त टापू पर जा पहुचा। उस टापू पर अन्य कोई मनुष्य नहीं था, वहाँ एकमात्र गन्ने की फसल थी।

टापू के पास की किसी नदी में वह स्नान कर लेता और अपने आपको पवित्र मानता। भूख के समय वह गन्ना चूसकर खा लेता। धीरे-धीरे समय बीतने लगा। मात्र गन्ने के रस के कारण धीरे-धीरे उसे कंटाला आने लगा।

एक दिन अपनी नाव के टूट जाने से एक यात्री उस टापू पर आ पहुँचा। वह अन्य किसी यान की इन्तजारी में था। टापू पर अन्य फल न होने से वह भी गन्ना ही चूसता। गन्ने के रस का पाचन न होने से उसे दस्त लगने लगी। वह अलग-अलग स्थानों में जाकर मल करने लगा।

शौचवादी ब्राह्मण गन्ने के स्वाद से कंटाल गया था, वह किसी अन्य फल की तलाश में था। आखिर वह दूसरे यात्री के मल-विसर्जन के स्थान पर आ गया और उसकी दस्त के शुष्क मल को ही अन्य फल समझकर खाने लग गया। कुछ दिन बीते। एक दिन अचानक उस यात्री से उसकी भेंट हो गई।

शौचवादी ब्राह्मण ने पूछा—"तुम क्या खाते हो ?"

उसने कहा—"मात्र गन्ने का रस।"

"क्या गन्ने के फल नहीं खाते हो ?"

'नहीं। गन्ने के फल कहाँ होते हैं ?' उस यात्री ने कहा।

शौचवादी ब्राह्मण ने कहा—'चलो, मैं दिखाता हूँ।' और वह उसे शुष्क दस्त दिखाने लगा। यह देखते ही उस यात्री को हँसी आ गई। उसने कहा—"पागल हो क्या ? ये कोई गन्ने के फल हैं ? यह तो मेरा मल है।"

सुनते ही शौचवादी ब्राह्मण के बेहाल हो गये—"अहो ! अपवित्रता से बचने के लिए तो घर छोड़कर यहाँ आया और यहाँ आकर यह पाशविक चेष्टा कर दी।"

वह ब्राह्मण अपने आपको धिक्कारने लगा।

जैनशासन में भी शौचधर्म बतलाया गया है, परन्तु उसमें अभ्यन्तर-शौच की प्रधानता है, बाह्य शौच गौण है। मात्र यदि बाह्य शौच-शारीरिक शुद्धि से ही मुक्ति हो जाती तो सदा जल में वास करने वाले मत्स्य कभी के मुक्त बन जाते। परन्तु मात्र देह-शुद्धि से कभी मुक्ति नहीं होती है, मुक्ति के लिए तो मनःशुद्धि की आवश्यकता रहती है।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

हंस का रंग देखो तो 'व्हाइट' है,
बगुले का रंग भी तो 'व्हाइट' है।
परन्तु दोनों में अन्तर देखो,
तो 'डे' एण्ड 'नाइट' है।

जो मनःशुद्धि को गौण कर तन-शुद्धि पर ही बल देते हैं, उनके लिए किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

मन मैला तन ऊजला, बगुला जैसा रंग।
इससे तो कौआ भला, तन मन एक ही रंग ।।

शरीर तो अशुचि का घर है, उसकी शुद्धि कभी सम्भव नहीं है। पूज्य उपाध्यायजी महाराज एक रूपक के द्वारा हमें यह बात समझाते हैं।

एक अधपका मिट्टी का घड़ा है और उसमें शराब भरी हुई है। धीरे-धीरे वह शराब उस घड़े में से गलने लगती है। चारों ओर उस शराब की दुर्गन्ध फैलती है। उस शराब की दुर्गन्ध को रोकने के लिए कोई व्यक्ति पवित्र नदी गंगा की मिट्टी से उसका लेप कर दे अथवा पवित्र गंगाजल से उसे बारम्बार धो दे, तो भी वह घड़ा दुर्गन्ध को रोक नहीं सकता है।

बस, यही हालत इस शरीर की है। इसको कितनी ही बार नहलाया जाय, परन्तु यह अपनी दुर्गन्ध का त्याग नहीं करता है। अस्थि, मज्जा, मांस तथा रक्त आदि दुर्गन्धित पदार्थों से यह शरीर भरा हुआ है, अतः जल-स्नान से इसे पवित्र करने की बात हास्यास्पद ही है। □

स्नायं स्नायं पुनरपि पुनः स्नान्ति शुद्धाभिरद्भि-
र्वारं वारं बत मल - तनुं चन्दनैरर्चयन्ते।
मूढात्मानो वयमपमलाः प्रीतिमित्याश्रयन्ते,
नो शुद्धयन्ते कथमवकरः शक्यते शोद्धुमेवम् ।।७२।।

(मन्दाक्रान्ता)

अर्थ—मूढ़ प्राणी बारम्बार स्नान करके मल से युक्त इस शरीर को शुद्ध जल से साफ करता है, उसके बाद उस पर चन्दन का लेप करता है और उसके बाद 'हम मल से मुक्त बन गए' इस प्रकार प्रीति का आश्रय करता है। किन्तु वह कभी शुद्ध नहीं होता है, क्या कचरे के ढेर को किसी प्रकार से शुद्ध किया जा सकता है? ॥ ७२ ॥

विवेचन

शरीर मल का घर है

इस शरीर की शुद्धि के लिए व्यक्ति कितने प्रयत्न करता है? पहले विविध तेलों से मालिश करता-करवाता है, फिर गर्म जल से स्नान करता है, फिर सुगन्धित साबुन लगाता है, पुनः ठण्डे-गर्म जल से स्नान करता है। स्नान के बाद शरीर को पोंछकर उस पर चन्दन के तेल का विलेपन करता है, शरीर पर इत्र आदि लगाता है। सिर पर सुगन्धित तेल लगाता है। नयी-नयी डिजाइन के कीमती वस्त्र पहनता है और इस प्रकार तैयार होकर दर्पण में अपना मुँह देखकर खुश होता है और मन में अहंकार करता है—"वाह! मैं कितना सुन्दर हूँ, मेरा चेहरा कितना चमक रहा है।"

परन्तु उपाध्यायजी म. कहते हैं कि शरीर को सौन्दर्य-प्रसाधनों से चमक-दमक वाला करने में कोई फायदा नहीं है।

वे तो कहते हैं कि 'क्या उकरड़े को कभी साफ किया जा सकता है?' प्रत्येक गाँव में, गाँव के बाहर उकरड़ा होता है, जहाँ सभी कचरा डालते हैं।

क्या उस उकरड़े को साफ किया जा सकता है ? नहीं। उसे ऊपर-२ से ज्यों-ज्यों साफ करते हैं, त्यों-त्यों उसकी दबी हुई गन्दगी ही बाहर निकलती है। उस उकरड़े पर सुगन्धित पदार्थ डालना, केवल मूर्खता ही है।

बस, यह शरीर भी उकरड़े की भाँति ही है, इसे साफ करने की चेष्टा करना केवल मूर्खता ही है। □

कर्पूरादिभिरर्चितोऽपि लशुनो नो गाहते सौरभं,
नाजन्मोऽपकृतोऽपि हन्त पिशुनः सौजन्यमालम्बते।
देहोऽप्येष तथा जहाति न नृणां स्वाभाविकीं विस्रतां,
नाभ्यक्तोऽपि विभूषितोऽपि बहुधा पुष्टोऽपि विश्वस्यते ॥७३॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—कर्पूर आदि सुगन्धित पदार्थों से वासित करने पर भी लहसुन कभी सुगंध को ग्रहण नहीं करता है। जीवन पर्यन्त नीच व्यक्ति पर कितना ही उपकार किया जाय तो भी उसमें सज्जनता नहीं आती है, इसी प्रकार मनुष्य का देह भी अपनी स्वाभाविक दुर्गन्ध को नहीं छोड़ता है। इस देह की कितनी ही सेवा की जाय, इस देह को कितने ही आभूषणों से विभूषित किया जाय, इस देह को कितना ही पुष्ट किया जाय, फिर भी इस पर विश्वास नहीं रखा जा सकता है ॥ ७३ ॥

विवेचन

शरीर अपना स्वभाव छोड़ने वाला नहीं है

लहसुन को कर्पूर आदि सुगन्धित पदार्थों के बीच रखा जाय

तो भी उसकी दुर्गन्ध सुगन्ध में बदलती नहीं है और उसकी दुर्गन्ध प्रगट हुए बिना रहेगी नहीं।

जिस प्रकार लहसुन अपनी दुर्गन्ध का त्याग नहीं करता है, उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति भी कभी अपनी दुष्ट प्रकृति का त्याग नहीं करता है।

एक महात्मा नदी किनारे जा रहे थे। अचानक उन्होंने जल में गिरे हुए एक बिच्छू को देखा। महात्मा को दया आ गई, उन्होंने उस बिच्छू को अपनी हथेली में उठा लिया। किन्तु उस बिच्छू ने तत्काल ही महात्मा को हथेली में डंक मारा, जिससे हथेली हिली और वह उछलकर पुनः जल में जा गिरा।

महात्मा को दया आई, 'बेचारा! जल में मर जायेगा।' अतः पुनः उसे जल से बाहर निकाला।

किन्तु बिच्छू ने अपनी दुष्टता नहीं छोड़ी, दूसरी बार भी उसने महात्मा के हाथ में डंक मार दिया। हथेली के हिलने से वह पुनः जल में जा गिरा।

परोपकारपरायण महात्मा जब पुनः उसे बचाने की कोशिश करने लगे तब पास में खड़े एक व्यक्ति ने कहा—"महात्माजी! आप व्यर्थ ही बालिश चेष्टा क्यों कर रहे हैं? आप तो इसे बचा रहे हैं और यह.....।"

महात्मा ने कहा—"भाई! यदि यह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, तो मैं अपने स्वभाव का त्याग क्यों करूं?"

कहने का सार यह है कि सज्जन व्यक्ति कितना ही

परोपकार करे, किन्तु दुष्ट व्यक्ति अपनी दुष्टता का प्रदर्शन किए बिना नहीं रहेगा।

दुष्ट मित्र जैसी ही इस शरीर की हालत है। इसे कितना भी नहलाया जाय, इसकी कितनी ही सेवा की जाय, तो भी अन्त में तो यह धोखा ही देने वाला है।

बात याद आ जाती है एक श्रेष्ठिपुत्र की। उस श्रेष्ठिपुत्र के तीन मित्र थे। एक मित्र हमेशा साथ रहता था। उसके साथ वह अनेक बार भोजन करता था। अनेक प्रकार की बातें करता था।

दूसरे मित्र से कभी-कभी मिलना होता था, बहुत कम बार उसके साथ खाने का काम पड़ता था।

तीसरे मित्र के साथ क्वचित् ही मिलने का काम पड़ता था और उसके मिलने पर मात्र 'नमस्कार' आदि की औपचारिक क्रियाएँ होती थीं।

एक दिन उस श्रेष्ठिपुत्र ने उन तीनों मित्रों की परीक्षा करनी चाही कि इनमें से सच्चा मित्र कौनसा है?

श्रेष्ठिपुत्र ने राजा के अतिप्रिय पोपट को पकड़कर अपने घर में छिपा दिया और वह भागा, अपने रोजींदा मित्र के घर।

मित्र को जाकर बोला—"मैं राजा का अपराधी हूँ। मैंने राजा के प्रिय पोपट को मार डाला है, अतः राजा मुझे पकड़ लेगा, तुम मुझे अपने घर में संरक्षण दो।"

मित्र ने सोचा—"अहो ! इसने तो राजा का अपराध किया है, राज्य के अपराधी को आश्रय देना तो पाप है, इससे तो मैं भी फँस जाऊँगा" इत्यादि सोचकर बोला—"अहो ! तूने राजा का अपराध किया है, अतः तू तो डूबेगा ही और मुझे भी डुबोना चाहता है अतः तू यहाँ से जल्दी चला जा....।"

मित्र की यह बात सुनकर श्रेष्ठिपुत्र भौंचक्का रह गया। फिर वह भागा अपने उस मित्र के घर, जिससे वह माह में १-२ बार ही मिलता था और साथ खाता-पीता था। उस मित्र के पास जाकर उसने सब बात कही। मित्र ने नाश्ता आदि कराया और फिर उसे कहा—" यहाँ रहने में आपत्ति है, अतः यहाँ से दूर भाग जाओ।"

यह बात सुनकर श्रेष्ठिपुत्र निराश हो गया, वह गया अपने तीसरे मित्र के घर।

श्रेष्ठिपुत्र के आते ही उस तीसरे मित्र ने स्वागत किया, सत्कार किया और उसके बाद आगमन की बात पूछी। श्रेष्ठिपुत्र ने राज-अपराध की बात कही। तब उस मित्र ने कहा—"चिन्ता मत करो, आपको यहीं छिपकर रहना है। मेरे होते हुए आपका कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता है। आप बेफिक्र रहिए।"

इस मित्र का इस प्रकार का आश्वासन सुनते ही श्रेष्ठिपुत्र के आनन्द का पार न रहा, उसने निर्णय किया—"वास्तव में, यही सच्चा मित्र है।"

इस कथानक के अनुसार आत्मा श्रेष्ठिपुत्र है। देह

चौबीस घंटे साथ रहने वाला रोजींदा मित्र है। स्वजन-परिवार कदाचित् के मित्र हैं और धर्म क्वचित् मिलने वाला मित्र है।

इन मित्रों की परीक्षा करेंगे तो पता चलेगा कि हमेशा साथ रहने वाला देह आत्मा को धोखा ही देने वाला है। आत्मा के पाप की सजा भोगने के समय यह देह धोखा दे देता है।

कभी-कभी साथ में रहने वाले स्वजन-परिवार आदि भी आपत्ति के समय आत्मा को रक्षण देने वाले नहीं हैं।

आत्मा को रक्षण देने वाला एकमात्र धर्म ही है। धर्म ही आत्मा को मुक्तिपर्यन्त सहयोग देता है।

ग्रन्थकार महर्षि यही फरमाते हैं कि इस देह की कितनी ही मालिश करो, इसको विभूषा करो, इसे पुष्ट करो परन्तु इससे आत्मा को कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है, बल्कि यह देह विश्वास का भी पात्र नहीं है। इसका विश्वास करने जैसा नहीं है, इसके भरोसे रहने वाला भी हमेशा नुकसान ही उठाता है। □

यदीय संसर्गमवाप्य सद्यो भवेच्छुचीनाम शुचित्वमुच्चैः।
अमेध्ययोनेर्वपुषोऽस्य शौच-संकल्पमोहोऽयमहो महीयान्।।७४।।
(उपेन्द्रवज्रा)

अर्थ—जिसके संसर्ग को प्राप्त करके पवित्र वस्तु भी शीघ्र ही अत्यन्त अपवित्र हो जाती है तथा जो शरीर अपवित्र वस्तुओं की उत्पत्ति का केन्द्र है, ऐसे शरीर को पवित्रता की कल्पना करना महाअज्ञान ही है ।। ७४ ।।

विवेचन

शरीर की प्रकृति

इस देह की बीना ही कुछ और है।

हम इस देह को विशुद्ध करने के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु इस देह का स्वभाव ही बड़ा विचित्र है, जो भी इसके सम्पर्क में आता है उसे यह बिगाड़ देता है, अत्यन्त दुर्गन्धमय बना देता है।

दुनिया में तो जितने कारखाने हैं, वे कच्चे माल को पक्का माल बनाते हैं। कपड़े की मिल देखिए—रुई के मोटे धागों को वह कितने आकर्षक कपड़े के रूप में बदल देती है?

परन्तु यह शरीर तो विपरीत स्वभाव वाला कारखाना है, यह तो पक्के माल को गंदगी के रूप में बदल देता है।

सुगन्धित इत्र इसके सम्पर्क में आया तो उसे यह पसीने की गन्दगी में बदल देता है।

स्वादिष्ट आम व मिष्ठान्न इसके सम्पर्क में आए तो उसे वह विष्टा के रूप में बदल देता है।

सुन्दर व कीमती रेशमी वस्त्रों से इस शरीर को आच्छादित किया, किन्तु उन्हें भी कुछ ही दिनों में बिगाड़ देता है।

हलवाई की दुकान पर अत्यन्त आकर्षक लगने वाले मिष्ठान्न की इस शरीर के सम्पर्क में आने के बाद क्या हालत होती है? इससे कोई अपरिचित नहीं है।

स्वादिष्ट गुलाबजामुन मुँह में डाले और तत्क्षण उल्टी हो गई। क्या हालत होगी, उन गुलाबजामुनों की? क्या अन्य कोई उस ओर देखने की भी चेष्टा करेगा? नहीं, कदापि नहीं।

मल्लिकुमारी का रूप अत्यन्त सुन्दर था। अनेक राजकुमार उससे विवाह करना चाहते थे। वे उसके रूप में मोहित बने हुए थे। आत्म-स्वरूप की ज्ञाता मल्लिकुमारी ने सोचा, इन राजकुमारों को इस देह की वास्तविकता का ज्ञान कराना चाहिये। यह सोचकर उसने स्ववर्ण समान सोने की एक पुतली बनवाई, जो अन्दर से खोखली थी। उस पुतली के सिर पर ढक्कन था, प्रतिदिन मल्लिकुमारी उस पुतली में भोजन का एक-एक कवल डालने लगी। कुछ महीनों के बाद जब वे छह राजकुमार मल्लिकुमारी के भवन में आए, तब मल्लिकुमारी ने अपनी वह प्रतिमा भी पास में मंगा ली और उसका ढक्कन खोल दिया। ढक्कन हटाते ही उसमें से भयंकर बदबू आने लगी। राजकुमारों का दम घुटने लगा, वे रुमाल से अपना नाक दबाने लगे।

मल्लिकुमारी ने कहा—'राजकुमारो! तुम मेरे देह में आकर्षित बने हो, परन्तु मेरे देह की वास्तविकता को तुमने पहचाना है?, देखो, पास में यह मेरी प्रतिमा, जिसमें मैंने प्रतिदिन भोजन का एक ही कवल डाला है, फिर भी उसकी यह दुर्गन्ध। तो इस शरीर में तो मैं अनेक बार भोजन डालती हूँ। फिर यह सुगन्धित कैसे रह सकता है?

मल्लिकुमारी की इस बोधजनक बात को सुनकर सभी राजकुमार प्रभावित हो गए और उन्होंने अपनी आसक्ति का त्याग कर दिया।

जो स्वयं अशुचि स्वरूप है, उसकी शुद्धि कैसे हो सकती है ? अतः बाह्य शौचधर्म की बात करना केवल मूर्खता ही होगी ।

□

इत्यवेत्य शुचिवादमतथ्यं, पथ्यमेव जगदेकपवित्रं ।
शोधनं सकलदोषमलानां, धर्ममेव हृदये निदधीथाः ।।७५।।
(स्वागता)

अर्थ—इस प्रकार 'शुचिवाद' को अतथ्य समझकर सकल दोषों की शुद्धि करने वाले जगत् में एकमात्र पवित्र धर्म को हृदय में धारण करो ।। ७५ ।।

विवेचन

शुद्ध धर्म का सेवन ही श्रेयस्कर है

इस प्रकार इस देह की शौचवाद की अवास्तविकता को समझकर एकमात्र धर्म का आश्रय करना ही श्रेयस्कर है। आत्मा के दोष स्वरूप मैल को दूर करने के लिए धर्म साबुन के समान है। सम्पूर्ण जगत् में इस धर्म के समान कोई पवित्र वस्तु नहीं है। यही पथ्य है और यही तथ्य है।

रोग के निवारण के लिए पथ्य का सेवन और अपथ्य का त्याग अनिवार्य है। दोनों की उपेक्षा से रोग का निवारण शक्य नहीं है। अपथ्य का त्याग किया जाय और पथ्य का सेवन न किया जाय अथवा पथ्य का त्याग किया जाय और अपथ्य का त्याग न किया जाय तो रोग का निवारण शक्य नहीं है।

आत्मा पर भी कर्म का रोग लगा हुआ है। उस कर्म रोग के निवारण के लिए अपथ्यभूत अधर्म का त्याग और पथ्यभूत धर्म का सेवन अनिवार्य है। यह धर्म मोक्षमार्ग के लिए पथ्य-भूत है, अतः इसका सेवन अत्यन्त ही अनिवार्य है।

आत्मा के शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए यह धर्म ही तथ्य स्वरूप है।

ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि मात्र बाह्य शौचस्वरूप जो 'शुचिवाद' है, उसका त्याग कर आत्मा की अभ्यन्तर शुद्धि लाने वाले शुद्ध धर्म का आसेवन ही वास्तविक कल्याण का मार्ग है। अतः उसी का सेवन करना चाहिये।

□

From anger arises infatuation, from infatuation, confusion of memory, from confusion of memory, loss of reason, and from loss of reason one goes to complete ruin.

षष्ठभावनाष्टकम् - गीतम्

भावय रे वपुरिदमतिमलिनं ,
विनय विबोधय मानसनलिनम् ,
पावनमनुचिन्तय विभुमेकं ,
परम महोदयमुदितविवेकम् ।।भावय रे०....।।७६।।

अर्थ—हे विनय ! तू इस प्रकार की भावना कर कि यह शरीर अत्यन्त मलिन है। अपने मनोमय कमल को विकसित कर जहाँ एक प्रकाशवान्, विवेकवान् और महापवित्र आत्मा है, उसका बारम्बार चिन्तन कर ।। ७६ ।।

विवेचन

मलिन देह में पावन आत्मा

जीवात्मा जब तक इस संसार में भटकती है, तब तक उसे प्रत्येक जन्म में देह धारण करना पड़ता है। तैजस और कार्मण शरीर तो अनादि काल से जीवात्मा से लगे हुए ही हैं। परन्तु भव-धारण के लिए जीवात्मा को औदारिक या वैक्रियिक शरीर भी धारण करना पड़ता है। देव और नारक के भव में आत्मा तैजस-कार्मण के साथ वैक्रिय शरीर धारण करती है और मनुष्य-तिर्यंच के भव में तैजस कार्मण के साथ औदारिक शरीर धारण करती है।

इस प्रकार हर जन्म में किसी-न-किसी देह के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध रहता ही है। देह के बिना जीवन अशक्य है।

ज्ञानियों ने मानव-देह को मुक्ति का साधन बतलाया है। अनुत्तरवासी देवों को भी मुक्ति पाने के लिए मानव-गर्भ में आना ही पड़ता है और गर्भावास आदि की पीड़ा भी भोगनी पड़ती है।

परन्तु अफसोस! मोक्ष के साधनभूत मानव-देह की प्राप्ति के बाद भी मोहाधीन आत्मा उस देह के राग में अत्यन्त आसक्त बन जाती है और मोक्ष के साधनभूत देह को ही अपना साध्य बना देती है। फिर चौबीस घंटे उसी की सेवा....उसी की शुश्रूषा।

देह में आसक्त भव्यात्माओं की सुषुप्त अन्तश्चेतना की जागृति के लिए पूज्य उपाध्यायजी म. आत्म-सम्बोधनपूर्वक प्रेरणा देते हुए फरमाते हैं कि—

यह शरीर मल से व्याप्त है। मल से ही इस शरीर का सर्जन हुआ है। मल से ही इस शरीर की वृद्धि हुई है।

जैसे तालाब में चारों ओर कीचड़ होता है, किन्तु उसके बीच भी खिले हुए कमल होते हैं, जो कीचड़ से सर्वथा अलिप्त होते हैं। इसी प्रकार इस देह रूप तालाब में मल रूप कीचड़ के बीच अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश के पुंज स्वरूप चेतन द्रव्य है।

तालाब के पास जाकर कोई कीचड़ की मांग नहीं करता है, बल्कि खिले हुए कमल ही देखता और ग्रहण करता है।

इसी प्रकार इस देह में भी हमें कमल स्वरूप चैतन्य की ओर ही दृष्टि डालने की है, उसी के स्वरूप की हमें भावना करनी है। □

दम्पतिरेतोरुधिरविवर्ते ,
किं शुभमिह मलकश्मलगर्ते ।
भृशमपि पिहितं स्रवति विरूपं ,
को बहु मनुतेऽवस्करकूपम् ।।भावय रे०····।।७७।।

अर्थ—दम्पत्ति के वीर्य और रक्त के कचरे के ढेर से जो बना हुआ है, उस देह में अच्छा क्या हो सकता है? उसको बारम्बार ढक देने पर भी उसमें से बीभत्स पदार्थ बहते रहते हैं। इस कचरे के कूप की कौन प्रशंसा करे? ।। ७७ ।।

विवेचन

शरीर गन्दगी का कूप है

कई गाँवों में कचरा डालने के लिए बड़े-बड़े गड्ढे अथवा कुए होते हैं। शहरों में भी सड़क के किनारे कचरा पेटी देखने को मिलती है। उस कचरा पेटी में क्या होता है? एकमात्र कचरा ही न?

बस, यह शरीर भी कचरे का ही ढेर है। इसकी उत्पत्ति भी रज, वीर्य और रक्त जैसे दुर्गन्धित पदार्थों से ही हुई है। गर्भावास अर्थात् मल की कोठरी में ही इसका सर्जन हुआ है। वहाँ न कोई सुगन्धित पदार्थ थे और न कोई सुख-सुविधा।

मल से सर्जित यह देह भी मल से ही भरा हुआ है। इस देह में मल है, मूत्र है, हाड़ है, मांस है, श्लेष्मा है, कफ है, वात है, पित्त है, इत्यादि मल से ही यह शरीर भरा हुआ है।

कितने ही सुन्दर व कीमती वस्त्रों से इस शरीर को ढका जाय, इसे कितने ही कीमती आभूषणों से सजाया जाय, फिर भी इस शरीर में से गन्दगी का बहना बन्द नहीं होता है। इस शरीर में से समय-समय पर बीभत्स पदार्थों का निर्गमन चालू ही रहता है।

जरा सोचें! इस प्रकार मल से आवृत इस शरीर के साथ कौन बुद्धिमान् पुरुष प्रीति धारण करेगा? □

भजति सचन्द्रं शुचिताम्बूलं,
कर्तुं मुखमारुतमनुकूलम्।
तिष्ठति सुरभि कियन्तं कालं,
मुखमसुगन्धि जुगुप्सितलालम् ।।भावय रे०....।।७८।।

अर्थ—मुख में से अनुकूल पवन निकालने के लिए मनुष्य कर्पूरादि सुगन्धित पदार्थों से युक्त पान (तांबूल) खाता है। किन्तु मुख स्वयं ही घृणित लार से भरा हुआ है, उसकी यह सुगन्ध कब तक रहती है? ।। ७८ ।।

विवेचन

शरीर में सुगन्ध रह नहीं पाती है

गन्दगी से भरपूर इस शरीर को सुगन्धित व आकर्षक बनाने के लिए मनुष्य कितनी मेहनत करता है?

मुख में से सुगन्धित पवन निकले, इसके लिए व्यक्ति इलायची आदि से मिश्रित पान खाता है। इलायची, लोंग, सुपारी आदि बारम्बार चबाता रहता है।

पान खाकर वह कहीं थूकता है, परन्तु जिस शरीर में ही गन्दगी भरी हुई है, तो मुँह से सुगन्धित वायु की आशा करना व्यर्थ ही है। मुँह के नीचे तो तुच्छ लार रही हुई है।

उस लार में अत्यन्त दुर्गन्ध होती है। वह थूक अथवा लार किसी पर गिर जाय तो तत्काल झगड़ा होने की सम्भावना रहती है।

शरीर की यही वास्तविक स्थिति है, तो फिर इससे प्रेम व राग करना मूर्खता ही है। देखो तो सही, शरीर का सौन्दर्य भी कब तक? इस पर लगाए पदार्थों की चमक-दमक कितने समय तक रहती है?

मात्र थोड़े समय के लिए। तो फिर प्रश्न होता है ऐसे शरीर में आसक्ति क्यों? □

असुरभिगन्धवहोऽन्तरचारी ,
आवरितुं शक्यो न विकारी।
वपुरुपजिघ्रसि वारं - वारं ,
हसति बुधस्तव शौचाचारम् ।।भावय रे०....।।७९।।

अर्थ—शरीर में व्याप्त दुर्गन्धित और विकारी पवन को रोका नहीं जा सकता है, ऐसे शरीर को तू बारम्बार सूंघता है। विद्वज्जन तेरे इस 'शौचाचार' पर हास्य करते हैं ।। ७९ ।।

विवेचन

शरीर कभी स्वच्छ नहीं हो सकता

इस शरीर में जो भी पवन जाता है, वह इस शरीर के सम्पर्क में आते ही दुर्गन्धित बन जाता है। मलयाचल के चन्दन-वन के पर्वतों से आने वाला पवन भी इस देह में प्रवेश के साथ दुर्गन्ध में परिवर्तित हो जाता है।

नाक फूल की खुशबू ग्रहण करता है, किन्तु उस खुशबू को ग्रहण करने के बाद भी इस नाक में से कैसा पवन बाहर निकलता है ?

दुनिया के समस्त सुगन्धित पदार्थों को दुर्गन्धित बनाने वाला यह शरीर है।

शहर में जितनी भी गन्दगी है, उन सबका जनक यह मानव-शरीर है।

ओह ! फिर भी आश्चर्य, कि ऐसे गन्दे देह को आकर्षक बनाने के लिए मनुष्य नाना सौन्दर्य-प्रसाधनों का उपयोग करता रहता है और फिर इस देह को बारम्बार सूंघता है, चाटता है।

क्या इस मलिन देह को पास में रखकर शौचधर्म का पालन हो सकता है ? तू जल से भले ही बाहर की गन्दगी को साफ कर दे, परन्तु अन्दर की गन्दगी थोड़े ही साफ होने वाली है।

द्वादश-नव रन्ध्राणि निकामं,
गलदशुचीनि न यान्ति विरामम् ।
यत्र वपुषि तत्कलयसि पूतं,
मन्ये तव नूतनमाकूतम् ।।भावय रे०....।।८०।।

अर्थ—स्त्री-शरीर के बारह और पुरुष - शरीर के नौ द्वारों में से सतत अपवित्रता बह रही है, जो कभी रुकती नहीं है, ऐसे शरीर में तू पवित्रता की कल्पना करता है, यह तेरा कैसा नवीन तर्क है? ।। ८० ।।

विवेचन

बीभत्स देह

इस देहधारी पुरुष के नौ अंगों में से सतत बीभत्स पदार्थ बाहर निकलते रहते हैं।

दोनों कानों में से मैल, दोनों आँखों में से पानी व मैल, दोनों नासिका-छिद्रों में से श्लेष्मा, मुँह में से लार तथा मल-मूत्र के विसर्जनद्वारों में से मल-मूत्र।

इस प्रकार इस शरीर के सभी द्वारों से सतत गन्दगी ही बहती रहती है।

कुछ समय के लिए कदाचित् गन्दगी का बहना रुक सकता है, किन्तु पूर्ण विराम तो सम्भव नहीं है।

स्त्री-शरीर के बारह द्वारों में से सतत गन्दगी बहती है।

इस प्रकार गन्दगी से भरपूर इस शरीर में पवित्रता की कल्पना एकमात्र कुतर्क ही है। □

अशितमुपस्कर-संस्कृतमन्नं
जगति जुगुप्सां जनयति हन्नम्।
पुंसवनं धेनवमपि लीढं,
भवति विर्गाहितमति जनमीढम् ।।भावय रे०....।।८१।।

अर्थ—देह मसाले आदि से संस्कारित अन्न को खाकर, दुनिया में केवल घृणा पैदा करता है। गाय का मधुर दूध भी मूत्र रूप में बदलकर निन्दा का पात्र बनता है ।। ८१ ।।

विवेचन

शरीर-संसर्ग से भोजन की दुर्दशा

इस शरीर की पुष्टता के लिए व्यक्ति नाना प्रकार के भोजन करता है। रसना की तृप्ति के लिए व्यक्ति अनेक प्रकार की भोजन-सामग्रियाँ बनाता है। अनेक प्रकार के मिष्टान्न, अनेक प्रकार के नमकीन, अनेक प्रकार की साग-सब्जियाँ आदि से भरपूर भोजन करता है। किन्तु गले से नीचे उतारने के बाद उस भोजन की क्या हालत होती है? वह सुगन्धित भोजन दुर्गन्ध में बदल जाता है। कुछ ही घंटों के बाद ताजा भोजन विष्टा में बदल जाता है। 'कोकाकोला' आदि स्वादिष्ट पेय भी कुछ समय बाद मूत्र में बदल जाते हैं और चारों ओर गन्दगी ही फैलाते हैं। इस प्रकार यह मानव-देह ही विश्व की समस्त गन्दगी का सर्जक है। □

केवलमलमय - पुद्गलनिचये ,
अशुचीकृत-शुचि-भोजनसिचये ।
वपुषि विचिन्तय परमिह सारं ,
शिवसाधन - सामर्थ्यमुदारम् ।।भावय रे०····।।८२।।

अर्थ—यह तो केवल मल के परमाणुओं का ढेर है, पवित्र भोजन और वस्त्रों को भी अपवित्र करने वाला है, फिर भी इसमें मोक्ष-प्राप्ति का सामर्थ्य है, यही इसका सार है ।। ८२ ।।

विवेचन

देह में प्रतिष्ठित आत्मा

इस सम्पूर्ण चौदह राजलोक में पुद्गल द्रव्य व्याप्त है। पुद्गल द्रव्य के चार भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। परमाणु पुद्गल का एक अविभाज्य अंश है, जिसके पुनः दो टुकड़े नहीं किए जा सकते हैं। इस चौदह राजलोक में स्वतंत्र एक-एक पुद्गल परमाणु भी अनन्त की संख्या में हैं।

जब एक से दो पुद्गल परस्पर मिल जाते हैं, तो वह दो परमाणु की एक वर्गणा कहलाती है। इस प्रकार इस चौदह राजलोक में दो-दो परमाणुओं के संयोग वाली वर्गणाएँ भी अनन्त पुद्गल समूहों की भिन्न-भिन्न वर्गणाएँ हैं।

ये पुद्गल परिवर्तनशील हैं। इनके रूप-रस-गन्ध आदि भी बदलते रहते हैं। इन पुद्गल समुदायों की मुख्य आठ वर्गणाएँ हैं—

(१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक (४) तैजस (५) भाषा (६) श्वासोच्छवास (७) मन और (८) कार्मण।

औदारिक शरीर की रचना के लिए औदारिक वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं। वैक्रिय शरीर की रचना के लिए वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं।

पुद्गल का अर्थ है—पुद् = इकट्ठा होना और गल अर्थात् बिखर जाना।

अपना शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गलों का बना हुआ है। अपने शरीर में से प्रतिसमय असंख्य, अनन्त पुद्गल बाहर निकलते हैं और अन्य असंख्य पुद्गल प्रवेश करते हैं।

इस प्रकार यह शरीर परमाणुओं का पुंज मात्र ही है। यह परमाणुपुंज कभी भी बिखर सकता है।

यह शरीर अपने सम्पर्क में आने वाले वस्त्र, पात्र तथा भोजन आदि को भी अपवित्र करने वाला है।

पूज्य उपाध्यायजी म. इस बीभत्स शरीर में भी एक आशा की किरण देख रहे हैं, वे कहते हैं कि इस औदारिक शरीर में तो आत्मा को शाश्वत शिव-सुख प्रदान करने का सामर्थ्य भी है। आज तक जितनी भी अनन्त आत्माएँ मोक्ष में गई हैं, वे इसी देह को प्राप्त कर गई हैं, अतः हमें भी इस देह की प्राप्ति हुई है, जो हमारे लिए स्वर्ण अवसर समान है, अतः इस मानव-देह के द्वारा मुक्ति की साधना कर लेने की है और इसके लिए प्रतिदिन यह सोचना चाहिये कि 'इस देह के द्वारा आज मैंने कौनसा सुकृत किया है ? इस देह से मैंने कितना परोपकार किया है ?

पर-हित में इस देह का कितना उपयोग किया है ?'

इस प्रकार सोचकर निरन्तर आत्म-कल्याण के पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रयत्न करना चाहिये। □

येन विराजितमिदमति - पुण्यं,
तच्चिन्तय चेतन नैपुण्यम्।
विशदागममधिगम्य निपानं,
विरचय शान्तसुधारसपानम् ॥भावय रे०....॥८३॥

अर्थ—हे चेतन! तू ऐसी निपुणता का चिन्तन कर, जिससे इसे महान् पुण्य के रूप में बिराजमान किया जा सके। विस्तृत आगम रूप जलाशय को जानकर शान्त सुधारस का पान कर ॥ ८३ ॥

विवेचन

आगम का अमृतपान करो

अति बीभत्स ऐसे मानव-देह को अति पुण्यशाली भी बनाया जा सकता है। यदि इस देह के द्वारा सम्पूर्ण अहिंसा का पालन किया जाय, इस देह के द्वारा संयम और तप का आचरण किया जाय, तो यह देह भी तीर्थ स्वरूप बन जाती है और देवों के लिए भी वन्दनीय-पूजनीय बन जाती है।

त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर परमात्मा भी इसी मानव-देह के द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं। चारों निकाय के सभी देव उनकी पूजा-अर्चना आदि करते हैं। तीर्थंकर परमात्मा के जन्म-समय कोटि देवताओं का आगमन होता है और उनके निर्वाण महोत्सव के लिए भी करोड़ों देवता आते हैं, यह सब प्रभाव उनके

तीर्थंकरत्व (आर्हंत्य) का ही है और उस तीर्थंकरत्व की प्राप्ति भी मानव-शरीर से ही होती है।

अतः हे आत्मन् ! मानव-देह अत्यन्त बीभत्स होते हुए भी मुक्ति का साधन होने से अत्यन्त ही दुर्लभ है। इस मानवदेह से देवों को दुर्लभ ऐसे विरतिधर्म की साधना हो सकती है और इस विरति धर्म की साधना से मानव अपने समस्त बन्धनों से मुक्त बन सकता है।

अतः हे आत्मन् ! महापवित्र आगम रूप जो जलाशय है, उस जलाशय में से शांत सुधारस का तू पान कर। इस शान्त सुधारस का पान करने से अनादि से अतृप्त तेरी तृषा शान्त हो जाएगी।

जिस नाव से समुद्र तरा जाय, वही वास्तव में नाव है। समुद्र में ही डुबो दे, वह वास्तव में नाव ही नहीं है। इसी प्रकार उसी का मानव-जीवन (मानव-देह की प्राप्ति) सार्थक है, जो इस देह को प्राप्त कर इसे मोक्षसाधक धर्म का साधन बना देता है। यदि इस मानव-देह से मोक्ष की साधना न की जाय, तो यह मानव-देह, आत्मा का भयंकर अधःपतन करा सकता है। जो अपने देह को मोक्ष का साधक बना देता है, उसका वह देह भी पवित्र बन जाता है।

अतः हे चेतन ! ऐसा निपुण चिन्तन कर कि जिसके द्वारा तू अपनी आत्मा को उन्नति के शिखर पर पहुँचा सके।

हे आत्मन् ! जरा विचार कर, जिनेश्वर का आगम तो अमृत-रस का जलाशय है, उस जलाशय में शान्त रस का पान कर अपनी आत्मा को तृप्त कर। □

7

आस्रव भावना

यथा सर्वतो निर्झरैरापतद्भिः
प्रपूर्येत सद्यः पयोभिस्तटाकः ।
तथैवास्रवैः कर्मभिः सम्भृतोऽङ्गी,
भवेद् व्याकुलश्चञ्चलः पङ्किलश्च ।। ८४ ।।
(भुजगप्रयातम्)

अथ—जिस प्रकार चारों ओर से आते हुए झरनों के जल से तालाब शीघ्र ही भर जाता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी आस्रव-द्वारों से आने वाले कर्मों से भर जाता है और फिर आकुल-व्याकुल, चंचल और मलिन बनता है ।। ८४ ।।

विवेचन

आस्रवद्वारों से आत्मा में कर्म का आगमन

इस विस्तृत चौदह राजलोक रूप संसार में सर्वत्र कार्मण वर्गणाएँ उपलब्ध हैं । ये कार्मण वर्गणाएँ पुद्गल स्वरूप हैं । जब आत्मा राग और द्वेष के अधीन होकर कर्म-पुद्गलों को आमन्त्रण देती है, तब ये कर्म-वर्गणाएँ आत्मा के पास पहुँच जाती हैं और क्षीर-नीर की भाँति आत्मा के साथ घुल-मिल जाती हैं और आत्मा कर्म के अधीन बन जाती है ।

आत्मा में कर्म के आगमन के द्वारों को आस्रव कहते हैं।

इसे अनेक रूपकों के द्वारा समझ सकते हैं।

(१) एक विशाल तालाब है। उसकी चारों दिशाओं में जल के आगमन के मार्ग बने हुए हैं और सभी द्वार खुले हैं। अचानक जोरों की वर्षा होती है और पानी अपने स्वभाव के अनुसार निम्न भाग की ओर आगे बढ़ता है, अतः थोड़े ही समय में चारों ओर से उस तालाब में पानी आने लगता है और कुछ ही घंटों में वह तालाब भर जाता है। बस, इसी प्रकार से जीवात्मा भी एक तालाब है। इसमें कर्म-परमाणुओं के आगमन के लिए आस्रव के द्वार बने हुए हैं, अतः जब जीवात्मा राग-द्वेष के अधीन बनता है, तब चारों ओर से आत्मा में कर्म-परमाणुओं का आगमन प्रारम्भ हो जाता है और आत्मा कर्म से युक्त हो जाती है।

(२) यह संसार सागर तुल्य है, इसमें जीवात्मा रूपी नाव है। जब नाव में छिद्र पड़ जाते हैं तब चारों ओर से पानी आने लगता है, इसी प्रकार जब जीवात्मा राग-द्वेष के परिणाम द्वारा आस्रव के द्वार खोल देता है तब उसमें चारों ओर से कर्म-परमाणुओं का आगमन प्रारम्भ हो जाता है।

राग और द्वेष के परिणाम द्वारा जब जीवात्मा अपने शत्रुभूत कर्मों को स्वगृह में प्रवेश करा देता है, तब उसके फलस्वरूप उसे नाना प्रकार की यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं।

आत्मा के संसार-परिभ्रमण का मूल कर्म है और कर्म का मूल आस्रवद्वार हैं।

आस्रव के कुल ४२ भेद हैं। इनमें से किसी एक भी प्रवृत्ति का आश्रय करते ही जीवात्मा में कर्मों का आगमन प्रारम्भ हो जाता है। फिर ज्योंही ये कर्म उदय में आते हैं तब आत्मा आकुल-व्याकुल बन जाती है और कर्म के उदय के फलस्वरूप ही आत्मा को जन्म की पीड़ाएँ, मृत्यु की पीड़ाएँ, रोग-शोक-भय आदि के दुःख भोगने पड़ते हैं। □

यावत् किञ्चिदिवानुभूय तरसा कर्मेह निर्जीर्यते,
तावच्चास्रवशत्रवोऽनुसमयं सिञ्चन्ति भूयोऽपि तत्।
हा कष्टं कथमास्रवप्रतिभटाः शक्या निरोद्धुं मया,
संसारादतिभीषणान्मम हहा मुक्तिः कथं भाविनी ॥८५॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—जब तक कुछ कर्मों को भोगकर जल्दी ही उनकी निर्जरा कर देते हैं, तब तक तो आस्रव रूप शत्रु प्रति-समय अन्य कर्मों को लाकर पुनः सिंचन कर देता है। हा! खेद है मैं उन आस्रव शत्रुओं का निरोध कैसे करूँ? इस भीषण संसार से मैं कैसे मुक्त बनूं? ॥ ८५ ॥

विवेचन

आस्रवों के निरोध में कठिनाई

अपनी आत्मा प्रति-समय आठों कर्मों की कुछ अंश में निर्जरा करती है। अज्ञान आदि के द्वारा आत्मा उदयावलिका में आए हुए **ज्ञानावरणीय** कर्मों का क्षय करती है। अंधत्व आदि के द्वारा **दर्शनावरणीय** कर्म का कुछ अंश में क्षय करती है। सुख-

दुःख के संवेदन द्वारा शाता-अशाता **वेदनीय कर्म** का क्षय करती है। इस प्रकार आत्मा प्रति-समय कर्मों का क्षय करती है। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि आत्मा अपनी शुभाशुभ प्रवृत्ति के द्वारा प्रति-समय सात या आठ कर्मों का बन्ध भी करती रहती है।

प्रति-समय कर्म का क्षय अति अल्प होता है, जबकि कर्म के आगमन और उसके बन्ध का परिमाण अत्यधिक है।

एक मकान में से आप कचरा साफ करना चाहते हैं और बाहर अत्यन्त तूफान चल रहा है। आपने दरवाजे-खिड़कियाँ आदि खुली ही रखी हैं, तो क्या आप मकान को साफ कर सकोगे ? नहीं। कदापि नहीं। आप थोड़ा सा कचरा साफ करोगे तब तक तो ढेर सा कचरा अन्दर आ जाएगा।

शत्रुओं का आगमन अधिक संख्या में हो और उनमें से बहुत थोड़े ही परास्त हो रहे हों, तो स्थिति भयजनक हो जाती है।

आस्रवद्वारों के खुले होने से सतत कर्मों का आगमन चालू रहता है और उनका प्रबल प्रतिकार नहीं हो पाता है। अतः समस्या है कि आस्रवों के प्रतिकार बिना इस भीषण संसार से आत्मा की मुक्ति कैसे होगी ? □

मिथ्यात्वाविरति-कषाययोग संज्ञा-
श्चत्वारः सुकृतिभिरास्रवाः प्रदिष्टाः।
कर्माणि प्रतिसमयं स्फुटैरमीभि-
र्बध्नन्तो भ्रमवशतो भ्रमन्ति जीवाः ।। ८६ ।।
(प्रहर्षणी)

अर्थ—महापुरुषों ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग को चार आस्रव कहा है। इन आस्रवों के द्वारा प्रति समय कर्मों को बांधते हुए जीव भ्रमवश संसार में भटकते हैं ।। ८६ ।।

विवेचन

कर्म-बंध के चार हेतु

प्रस्तुत गाथा में कर्मबंध के मुख्य चार हेतु बताए जा रहे हैं—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कषाय और (४) योग।

इन चारों के सेवन से आत्मा प्रतिसमय कर्म का बंध करती है। अपनी आत्मा के असंख्य आत्मप्रदेश हैं और प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कार्मण-वर्गणाएँ लगी हुई हैं और प्रत्येक कर्म में आत्मा को भयकर सजा देने की ताकत रही हुई है।

(१) मिथ्यात्व—मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत श्रद्धा अथवा दृष्टि। तत्त्व में अतत्त्व-बुद्धि और अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि मिथ्यात्व का रूप है। वीतराग को देव न मानना और रागादि से कलुषित आत्माओं को देव मानना।

जो निर्ग्रंथ गुरु हैं, उन्हें गुरु नहीं मानना और जो उन्मार्ग के उपदेशक हैं, उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार करना।

जिनेश्वर देव के द्वारा कथित दयामय धर्म को अस्वीकार करना और अज्ञानी द्वारा निर्दिष्ट हिंसामय प्रवृत्ति को धर्म मानना।

सारांश रूप में जिनेश्वर द्वारा कथित वचन में सन्देह करना।

इस मिथ्यात्व के ५ भेद हैं—

(१) **आभिग्रहिक मिथ्यात्व**—मिथ्या धर्म पर दुराग्रह करना, आत्मा को एकान्त नित्य अथवा अनित्यादि स्वीकार करना, इत्यादि।

(२) **अनभिग्राहिक मिथ्यात्व**—सभी धर्मों को समान समझना। तत्त्व-अतत्त्व के सन्दर्भ में विवेक का अभाव होना।

(३) **अभिनिवेशिक मिथ्यात्व**—सर्वज्ञ के बहुत से वचनों पर विश्वास करना, किन्तु १-२ बात पर विश्वास नहीं करना और अपनी बात का दुराग्रह करना।

(४) **सांशयिक मिथ्यात्व**—सर्वज्ञ के वचन में शंकाशील बनना अर्थात् जिनेश्वर ने जिस वस्तु का निरूपण किया है, उसमें शंकाएँ पैदा करना।

(५) **अनाभोगिक मिथ्यात्व**—तत्त्व-अतत्त्व के अध्यवसाय का सर्वथा अभाव। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में मन के अभाव के कारण 'तत्त्व क्या है ?' इस प्रकार का विचार ही नहीं होता है।

मिथ्यात्व की उपस्थिति में ९½ पूर्व का ज्ञान भी अज्ञान और चारित्र भी कायकष्ट कहलाता है। मिथ्यादृष्टि आत्मा करोड़ों वर्षों के तप आदि से जितने कर्मों की निर्जरा करती है, उससे भी अधिक कर्मों की निर्जरा सम्यग्दृष्टि आत्मा एक नवकारसी के पच्चक्खाण से कर लेती है।

मिथ्यात्व सर्व पापों का सरदार है। अतः जब तक इसकी उपस्थिति है, तब तक आत्मा में कर्मों का आस्रव अत्यधिक परिमाण में होता है।

(२) **अविरति**—अविरति अर्थात् पाप के त्याग की प्रतिज्ञा का अभाव। जब तक इच्छापूर्वक रुचि के साथ पाप-त्याग की प्रतिज्ञा नहीं की जाती है, तब तक पाप न करते हुए भी पाप का बंध होता है।

१. जैसे किसी से आपने मकान भाड़े पर ले लिया, अब उस मकान का आप उपयोग करें या न करें, तो भी उसका भाड़ा आपको चुकाना पड़ता है।

२. किसी से रुपये उधार लिये। अब उन रुपयों का आप उपयोग करें या न करें, समय होते ही आपको ब्याज देना पड़ता है।

३. बिजलीघर से आपने अपने घर में बिजली ली है। अतः आपको प्रतिमास न्यूनतम चार्ज देना ही पड़ता है। यदि आप नहीं देना चाहते हैं तो आपको कनेक्शन कटवाना चाहिये।

इसी प्रकार यदि आप कर्मों का बंधन नहीं चाहते हैं तो पाप-त्याग की प्रतिज्ञा के द्वारा पापों से सम्बन्ध तोड़ देना चाहिये, अन्यथा उनका आगमन सतत जारी रहता है।

एकेन्द्रिय आदि अवस्थाओं में अविरति का तीव्र उदय होने से कर्मों का आस्रव चालू ही रहता है।

अविरति के त्याग की प्रतिज्ञा का बहुत बड़ा फल है।

सर्वविरति के स्वीकार से एक भिखारी भी त्रिलोक-पूज्य बन जाता है।

पूर्व भव में एक दिन की दीक्षा के पालन से भिखारी का जीव संप्रति महाराजा बन गया था।

(३) **कषाय**—कष अर्थात् संसार। आय अर्थात् वृद्धि। जिसके सेवन से आत्मा के संसार की अभिवृद्धि हो, उसे कषाय कहते हैं। कषाय के सेवन से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है।

अल्पकालीन कषाय का भी परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है। क्रोध कषाय के आवेश के कारण कंडरिक को ७वीं नरक-भूमि में जाना पड़ा। लोभ के वश पड़कर मम्मण सेठ मरकर ७वीं नरक भूमि में गया।

कषाय के मुख्य चार भेद हैं— क्रोध, मान, माया और लोभ।

इनके सेवन से आत्मा कर्मों का बंध करती है।

(४) **योग**— मन, वचन और काया को योग कहते हैं। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से आत्मा कर्म का बंध करती है। शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्म (पुण्य) का बंध और अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्म (पाप) का बंध होता है।

इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग की प्रवृत्ति से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है और आत्मा इस भीषण संसार में भटकती है। □

इन्द्रियाव्रत-कषाय - योगजाः ,
पञ्च-पञ्च-चतुरन्वितास्त्रयः ।
पञ्चविंशतिरसत्क्रिया इति ,
नेत्र - वेद - परिसंख्ययाप्यमी ।। ८७ ।।
(रथोद्धता)

अर्थ—इन्द्रिय, अव्रत, कषाय और योग में से इनकी उत्पत्ति होती है और इनकी संख्या क्रमशः पाँच,पाँच, चार और तीन हैं तथा पच्चीस असत् क्रियाओं के साथ इनकी (आस्रवों की) बयालीस संख्या होती है ।। ८७ ।।

विवेचन

आस्रव के ४२ भेद

आस्रव के कुल ४२ भेद हैं —

५ इन्द्रियों की असत् प्रवृत्ति ,

५ अव्रत ,

४ कषाय ,

३ योग ,

२५ असत् क्रियाएँ ।

पाँच इन्द्रियों की असत् प्रवृत्ति

मनुष्य-योनि में जीवात्मा को पाँचों इन्द्रियों की प्राप्ति होती है । विवेकवान् आत्मा इन पाँचों इन्द्रियों को धर्म में जोड़ती है और अपनी आत्मा का कल्याण करती है । वह आत्मा कानों से

जिनेश्वर की वाणी का श्रवण करती है; आँखों से शास्त्रों का वाचन, देव-गुरु के दर्शन और जीव-दया का पालन करती है। जिनेश्वर की भक्ति में उपयोगी सुगन्धित पदार्थों की परीक्षा में अपने नाक का उपयोग करती है। जीभ के द्वारा वह प्रभु की स्तुति करती है और शरीर का उपयोग अन्य की सेवा शुश्रूषा में करती है, जबकि इन्हीं पाँचों इन्द्रियों को प्राप्त कर मोहाधीन आत्मा पाँचों इन्द्रियो के अनुकूल विषयों को पाने के लिए दौड़-धूप करती है, अनुकूल विषय मिलने पर राग करती है और प्रतिकूल विषय मिलने पर द्वेष करती है। वह कानों से रेडियो के गीत आदि का श्रवण करती है। आँखों से रूपवती स्त्रियों के रूप को देखती है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों को वह भौतिक शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श में जोड़ती है और इसके फलस्वरूप उस आत्मा में आस्रव का द्वार खुला ही रहता है और अनन्त कार्मण-वर्गणाएँ आकर उस आत्मा पर चोट लगाती हैं।

पाँचों इन्द्रियों के कुल २३ विषय हैं। उन विषयों की प्राप्ति-अप्राप्ति में राग-द्वेष करने से आत्मा में कर्म का आस्रव होता है।

(५) **अव्रत**—१. हिंसा के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से हिंसा में प्रवृत्त होना '**प्राणातिपात**' नामक अव्रत है।

२. झूठ के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से झूठ में प्रवृत्त होना '**मृषावाद**' नामक अव्रत है।

३. चोरी के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से चोरी में प्रवृत्त होना '**अदत्तादान**' नामक अव्रत है।

४. मैथुन के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से मैथुन की प्रवृत्ति में संलग्न होना **'अब्रह्म'** नामक अव्रत है।

५. परिग्रह के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से परिग्रह में प्रवृत्त होना **'परिग्रह'** नामक अव्रत है।

इन अव्रतों के सेवन से भी आत्मा में आस्रव के द्वार खुले रहते हैं और आत्मा कर्म का बंध करती है।

चार कषाय—

१. **क्रोध**—क्रोध अर्थात् गुस्सा करना, आवेश में आ जाना। किसी गलत बात को सहन न कर बुरा-भला कहना।

२. **मान**—प्राप्त अथवा अप्राप्त वस्तु का अभिमान करना, गर्व करना, झूठी बड़ाई हाँकना, किसी को नीचा दिखाना, इत्यादि।

३. **माया**—धन आदि के लोभ में आकर किसी के साथ माया-कपट-प्रपंच आदि करना, मूल बात को छिपाकर अन्य बात कहना, इत्यादि।

४. **लोभ**—अर्थात् प्राप्त सामग्री में असन्तोष। अधिकाधिक पाने की लालसा और उसके लिए तीव्र प्रयास।

इन चारों कषायों के आसेवन से आत्मा नवीन-नवीन कर्मों का उपार्जन करती है।

तीन योग—

१. **मन योग**—मन में किसी का अशुभ चिन्तन करना।

किसी के विनाश आदि का विचार करना। मन में अशुभ विचार करने से अशुभ-कर्मों का आस्रव होता है और मन को मैत्री आदि भावों से भावित करने पर शुभ कर्मों का आस्रव होता है।

२. **वचन योग**—वाणी से किसी को बुरा-भला कहना, किसी को अपशब्द कहना। वचन की शुभाशुभ प्रवृत्ति से शुभाशुभ कर्मों का आस्रव होता है।

३. **काय योग**—काया से किसी को कष्ट देना। काया से किसी का अहित करने से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है।

२५ असत् क्रियाएँ—

१ **कायिकी क्रिया**—कामवासना आदि दुष्ट भावों के लिए काया से प्रवृत्ति करना, कायिकी क्रिया कहलाती है। इसके दो भेद हैं—

(i) **सावद्य अनुपरत क्रिया**—मिथ्यादृष्टि तथा अविरत-सम्यगदृष्टि जीवों की काया से होने वाली चेष्टाओं को सावद्य अनुपरत क्रिया कहते हैं।

(ii) **दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया**—अशुभयोग वाले जीवों की इष्ट वस्तु में राग व अनिष्ट वस्तु में द्वेष की क्रिया दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया कहलाती है।

२. **आधिकरणकी क्रिया**—हिंसा के साधनभूत तलवार, बंदूक आदि को तैयार करना, करवाना अथवा उपयोग करना, इत्यादि क्रिया।

३. **प्राद्वेषिकी**—क्रोधादि से उत्पन्न द्वेष-पूर्वक की गई

क्रिया अथवा जिस क्रिया में क्रोध की बहुलता हो, वह प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है।

४. **पारितापनिकी क्रिया**— ताड़ना-तर्जना आदि द्वारा किसी को हैरान-परेशान करने की क्रिया को पारितापनिकी क्रिया कहते हैं।

५. **प्राणातिपातिकी क्रिया**— किसी भी जीव के प्राणों का नाश करने वाली क्रिया प्राणातिपातिकी क्रिया है।

६. **आरम्भिकी क्रिया**— छह काय के जीवों के वधस्वरूप आरम्भ-समारम्भ की क्रिया को आरम्भिकी क्रिया कहते हैं।

७. **पारिग्रहिकी क्रिया**— धन-धान्य आदि का परिग्रह करना, उन पर मूर्च्छा करना, इत्यादि पारिग्रहिकी क्रिया है।

८. **माया-प्रत्ययिकी क्रिया**— छल-कपट आदि द्वारा किसी को ठगने की प्रवृत्ति को माया-प्रत्ययिकी क्रिया कहते हैं।

९. **मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया**— मिथ्यादर्शन द्वारा प्ररूपित प्रवृत्ति करना। सर्वज्ञकथित हेय पदार्थ को उपादेय व उपादेय को हेय मानना-इत्यादि मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया है।

१०. **अप्रत्याख्यानिकी क्रिया**— अविरति के तीव्र उदय से किसी प्रकार के पाप-त्याग की प्रतिज्ञा न करना, अप्रत्याख्यानिकी क्रिया है।

११. **द्रष्टिकी क्रिया**— जीव-अजीव पदार्थ के किसी पर्याय-विशेष को राग दृष्टि से देखना, द्रष्टिकी क्रिया है।

१२. **स्पृष्टिकी क्रिया**—रागपूर्वक स्त्री, पुत्र आदि के शरीर का स्पर्श करना, स्पृष्टिकी क्रिया कहलाती है।

१३. **प्रातित्यकी क्रिया**—जीव-अजीव के निमित्त से जो राग-द्वेष के परिणाम पैदा होते हैं, उसे प्रातित्यकी क्रिया कहते हैं।

१४. **सामंतोपनिपातिकी क्रिया**—चारों ओर से आने वाले लोगों को राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली वस्तु बताकर स्वयं को राग-द्वेष होना। जैसे--बाजार में बेचने के लिए सजीव-गाय आदि अथवा निर्जीव—मोटर आदि लाकर रखना, जिसे देख कोई प्रशंसादि से रागादि करे और कोई क्षति निकाल कर द्वेष करे और उन लोगों के राग-द्वेष से स्वयं को राग-द्वेष हो, उसे सामंतोपनिपातिकी क्रिया कहते हैं।

१५. **नैसृष्टिकी क्रिया**—निसर्जन करना-फेंकना। कुए में से जल निकालना, धनुष्य में से बाण निकालना इत्यादि नैसृष्टिकी क्रिया कहलाती है।

१६. **स्वहस्तिकी क्रिया**—अपने हाथों से जीवों का घात करना, स्व-हस्तिकी क्रिया है।

१७. **आज्ञापनिकी क्रिया**—जीवों को (प्रभु आज्ञा विरुद्ध) हुक्म करने को आज्ञापनिकी क्रिया कहलाती है।

१८. **विदारणिकी क्रिया**—जीवों का विदारण करना, विदारणिकी क्रिया कहलाती है।

१९. **अनाभोगिकी क्रिया**—चित्त के उपयोग रहित वस्तु को लेने-रखने से अनाभोगिकी क्रिया होती है।

२०. **अनवकांक्षाप्रत्ययिकी क्रिया**—स्व-पर हित की आकांक्षा से रहित क्रिया करना। जैसे—पर स्त्री गमन, इत्यादि परलोक विरुद्ध आचरण करना।

२१. **प्रायोगिकी क्रिया**—मन, वचन और काया के योगों से अशुभ व्यापार करना, उसे प्रायोगिकी क्रिया कहते हैं।

२२. **सामुदानिकी क्रिया**—जिस क्रिया से समुदाय रूप में आठों कर्मों का बन्ध हो, अथवा समुदाय में जिस कर्म का बन्ध हो, उसे सामुदानिकी क्रिया कहते हैं।

२३. **प्रैमिकी क्रिया**—जीव-अजीव पदार्थों में प्रेम करने से तथा अन्य जीवों को प्रेम पैदा हो, ऐसे वचन बोलने को प्रैमिकी क्रिया कहते हैं।

२४. **द्वैषिकी क्रिया**—द्वेष को पैदा करने वाली क्रिया को द्वैषिकी क्रिया कहते हैं।

२५. **ऐर्यापथिकी क्रिया**—गमनागमन करने से होने वाली क्रिया ऐर्यापथिकी क्रिया कहलाती है।

इस प्रकार आस्रव के ये कुल ४२ भेद हैं। □

इत्यास्रवाणामधिगम्य तत्त्वं,
निश्चित्य सत्त्वं श्रुतिसन्निधानात्।
एषां निरोधे विगलद्विरोधे,
सर्वात्मना द्राग् यतितव्यमात्मन्॥ ८८॥

(इन्द्रवज्रा)

अर्थ—इस प्रकार आस्रवों के तत्त्व को जानकर तथा आगम अभ्यास से तत्त्व का निर्णय कर हे आत्मन्! इनके विरोध रहित निरोध के लिए तुझे शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिये॥ ८८॥

विवेचन

आस्रवद्वारों को बन्द करो

प्रस्तुत गाथा में पूज्य उपाध्यायजी म. जागृति का सन्देश

देते हुए फरमा रहे हैं कि हे आत्मन् ! तू जागृत बन, प्रमाद को त्याग। तूने अब अपने शत्रुओं को पहचान लिया है। भय तभी तक है, जब तक शत्रु-मित्र का भेद ख्याल में नहीं आता है। शत्रु-मित्र के भेद को समझ लेने के बाद तो उनके साथ कैसे व्यवहार करना, यह अपने हाथ में है। शत्रु की पहिचान के बाद तो उससे संरक्षण पाने की व्यवस्था की जा सकती है। अतः हे आत्मन् ! शास्त्र के श्रवण द्वारा तुझे शत्रु रूप आस्रव तत्त्व का बोध हो गया है।

हे मानव !
तेरा छोटा सा जीवन है,
जिसमें
अल्प तेरा यौवन है।
गँवा मत दे यौवन को,
मौज और शौक में,
फिर,
पश्चाताप से आँसू बहाएगा,
जब दुःख के बादल
तेरे सिर पर आ पड़ेंगे।
चेत जा,
समय थोड़ा है।
भर दे जीवन को,
त्याग और वैराग्य से।
जिससे,
प्राप्त होगी तुझको
समता और शान्ति ।। □

सप्तमभावनाष्टकम्

परिहरणीया रे, सुकृतिभिरास्रवा ,
हृदि समतामवधाय ।
प्रभवन्त्येते रे, भृशमुच्छृङ्खला ,
विभु गुण-विभव-वधाय ।। ८९ ।।

अर्थ—हृदय में समता को धारण कर सज्जन पुरुषों को आस्रव का त्याग कर देना चाहिये। अत्यन्त उच्छृंखल बने हुए ये (आस्रव) आत्मा के गुण-वैभव का घात करने में समर्थ हैं ।। ८९ ।।

विवेचन

आस्रवों का त्याग करो

जो आत्मा स्व-पर का हित करे, वह आत्मा सज्जन कहलाती है और जो आत्मा स्व-पर का अहित करे, वह दुर्जन कहलाती है। दुर्जन आत्मा सदा दूसरे का नुकसान हो, ऐसी ही प्रवृत्ति करती है। अतः दुर्जन को उपदेश देना, सर्प को दूध पिलाने के समान है। दूध पौष्टिक और लाभकारी पदार्थ है, किन्तु सर्प को दूध पिलाना तो उसकी विषवृद्धि के लिए ही

होता है। इसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति को धर्म का उपदेश देना, उसके कोपादि के लिए ही होता है।

बचपन में एक कथा पढ़ी थी—एक बार भयंकर सर्दी में पेड़ पर एक बन्दर काँप रहा था। उसे इस प्रकार काँपते हुए देखकर एक 'सुगरी' नामक पक्षी ने कहा—"तू इस प्रकार क्यों काँप रहा है? अपने निवास के लिए तुमने घोंसला क्यों नहीं बनाया? अभी भी तू सर्दी-गर्मी से रक्षण चाहता है तो अपने रहने के लिए घोंसला बना ले।"

यह सुनते ही बन्दर गुस्से वाला हो गया। 'अरे! यह एक छोटा सा पक्षी, मुझे उपदेश दे रहा है।' ऐसा सोचकर उसने उस पक्षी के घोंसले को ही बिखेरदिया। इस प्रकार 'सुगरी' पक्षी की हित-सलाह उसी के विनाश के लिए कारण बन गई।

जिस प्रकार कच्चे घड़े में भरा गया पानी, घड़े का नाश करता है, उसी प्रकार अपात्र–अयोग्य व्यक्ति को दिया गया उपदेश उसका भी विनाश करता है।

इसी कारण तीर्थंकर परमात्मा भी मुक्तिगामी भव्यात्माओं को सम्बोधित करके ही धर्म का उपदेश करते हैं, क्योंकि अभव्य और दुर्भव्य आत्माओं को उपदेश देना अनर्थ के लिए ही होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थकार महर्षि ने भी भव्यात्माओं के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की है, अतः वे सज्जन पुरुषों को सलाह देते हुए कहते हैं कि हे सज्जन पुरुषो! हृदय में समता भाव को धारण कर इन दुष्ट आस्रवों की संगति का त्याग कर दो। ये आस्रव

अत्यन्त ही उच्छृंखल वृत्ति वाले हैं। इनको आश्रय देने के साथ ही ये आत्मा के गुण-वैभव पर लूट चलाने वाले हैं। ये आस्रव तो वास्तव में लुटेरे हैं, जो आत्मा के गुण-वैभव को लूटते हैं। इनको आश्रय देना अत्यन्त ही खतरनाक है। स्वाति नक्षत्र के जल की बूंद, जो सीप के संग से मोती बन सकती थी, बेचारी! सर्प की संगति में आकर विष के रूप में बदल जाती है।

बस, इसी प्रकार जो आत्मा इन आस्रवों के संग में फँस जाती है, उसकी भी भयंकर दुर्दशा होती है। उसका आत्मधन लूट लिया जाता है और वह दरिद्र-कंगाल बन जाती है।

अतः सज्जनों का यह कर्त्तव्य है कि वे इन शत्रुभूत आस्रवों को तनिक भी आश्रय न दें। □

कुगुरु-नियुक्ता रे, कुमति-परिप्लुताः,
शिवपुरपथमपहाय ।
प्रयतन्तेऽमी रे, क्रियया दुष्टया,
प्रत्युत शिव-विरहाय ।। ९० ।।

अर्थ—कुगुरु से प्रेरित अथवा कुमति से भरे हुए प्राणी मोक्षमार्ग का त्याग कर दुष्ट क्रिया के द्वारा उल्टे मोक्ष के विरह के लिए ही प्रयत्नशील होते हैं ।। ९० ।।

विवेचन

कुगुरु का संग अहितकर है

इस दुनिया में सम्यग्दृष्टि आत्माएँ अत्यल्प संख्या में हैं और

मिथ्यादृष्टि आत्माएँ सर्वाधिक संख्या में हैं। इस प्रकार चारों ओर मिथ्यादृष्टि आत्माओं का साम्राज्य है। सर्वत्र कुगुरु का साम्राज्य छाया हुआ है। कुगुरु सदैव धर्म के नाम पर अधर्म का ही पोषण करते हैं। मोक्ष के नाम पर अपना ही स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

ऐसे कुगुरुओं के संग से सम्यग्दर्शन गुण भी दूषित हो जाता है और आत्मा में मिथ्यात्व दोष पुष्ट बनता है।

सद्गुरुओं के संग से दूर रहकर तथा शास्त्रमति का त्याग कर जो आत्माएँ स्वमति की कल्पनानुसार ही आराधना करना चाहती हैं, वे आत्माएँ आराधना के नाम पर विराधना ही करती हैं।

'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के नियमानुसार दुनिया में स्वैच्छिक मति के अनुसार चलने वाले बहुत हैं।

अदृष्ट पदार्थों के विषय में शास्त्रमति को त्याग कर जो आत्माएँ स्वमति से नई-नई कल्पनाएँ कर लेती हैं, वे आत्माएँ सन्मार्ग से च्युत होकर उन्मार्ग की ओर ही आगे बढ़ती हैं।

सद्गुरु के आश्रय में ही सम्यग्दर्शन आदि गुणों का रक्षण सम्भव है। सद्गुरु का त्याग करने से सम्यग्दर्शन गुण टिक नहीं पाता है।

जमाली ने ज्योंही भगवान महावीर के आश्रय का त्याग किया और स्वमति कल्पना का आश्रय लिया, त्योंही मिथ्यात्व से वे ग्रसित बन गए।

श्रीगुप्त आचार्य के शिष्य रोहगुप्त मुनि ने स्वमति कल्पना से विवाद किया, अतः वे सम्यग्दर्शन से च्युत हो गए।

सम्यग्दर्शन रत्न समान है। उसकी सुरक्षा सद्गुरु रूप पेटी और शास्त्रमति रूप चाबी से ही हो सकती है।

एक-एक नय का आश्रय करने वाले और अन्य नयों की उपेक्षा करने वाले अन्य सभी दर्शनकार मिथ्यादृष्टि ही कहलाते हैं। उनके आश्रय व संग से भी सम्यग्दर्शन गुण मलिन बनता है।

सार यही है कि जो आत्माएँ सद्गुरु का त्याग कर कुगुरु का आश्रय करती हैं, वे मोक्ष-मार्ग से दूर हो जाती हैं और मोक्ष के नाम पर की जाने वाली क्रियाओं से भी वे मोक्ष से दूर ही जाती हैं। □

अविरतचित्ता रे, विषय-वशीकृता,
विषहन्ते विततानि।
इह परलोके रे, कर्म-विपाकजान्य-
विरल - दुःख - शतानि ।। ९१ ।।

अर्थ—विरति से रहित चित्त वाले, विषय के वशीभूत बने हुए प्राणी कर्म के विपाक से जन्य अति भयंकर सैकड़ों दुःखों को इस लोक और परलोक में निरन्तर सहन करते हैं ।। ९१ ।।

विवेचन

अविरति आत्मा को भटकाती है

जैन शासन में 'विरति' धर्म का अत्यधिक महत्त्व है। पाप नहीं करते हुए भी जब तक पाप-त्याग की प्रतिज्ञा नहीं की जाती है, तब तक पाप का बन्ध सतत चालू रहता है।

इच्छापूर्वक एक छोटे से पाप के त्याग की भी बहुत बड़ी महिमा है।

एक भयंकर शराबी था। शराब के बिना उसका जीना दुष्कर था। दिन-रात शराब के नशे में रहता था। उसे प्रतिदिन हर तीन घंटे बाद शराब पीने को चाहिये।

एक दिन उसे एक महात्मा का संग हो गया। महात्मा ने धर्मोपदेश दिया और उसे कुछ नियम लेने के लिए कहा।

शराबी ने कहा—'गुरुदेव! आपकी बात बिल्कुल सत्य है। किन्तु शराब के बिना मेरा जीना दुष्कर है, अतः शराब तो मुझे पीनी ही पड़ती है। मैं क्या नियम ले सकता हूँ?'

गुरुदेव ने उसे ढाढ़स बंधाते हुए कहा—'महानुभाव,'! शराब के बिना तेरा जीना दुष्कर है, किन्तु फिर भी एक नियम तो अवश्य ले सकते हो।'

उसने कहा—'गुरुदेव! वह कौन सा नियम?'

गुरुदेव ने कहा—'वह है—गंठसी का नियम। जब तक कपड़े में गाँठ लगी हो, तब तक कुछ खाना-पीना नहीं। (नियम की स्पष्टता करते हुए उसे समझाया गया कि खा-पी लेने के बाद कपड़े में एक गाँठ लगा लेना और जब पुनः खाना-पीना पड़े तो गाँठ खोल लेना अर्थात् जब तक कपड़े में गाँठ लगी रहे तब तक न पीना और न ही कुछ खाना।)

शराबी ने यह नियम स्वीकार कर लिया और उस नियम का बराबर पालन करने लगा।

एक दिन उस नियम में परीक्षा की घड़ी आ गई। शराबी उस दिन रेशमी वस्त्र पहने हुए था। शराब पीकर उसने रेशमी वस्त्र में एक छोटी सी गाँठ लगा ली। दो-तीन घंटे के बाद शराब पीने की इच्छा हुई, वह गाँठ खोलने लगा···· किन्तु गाँठ खुली नहीं····बहुत प्रयत्न किया····सभी प्रयत्न बेकार गये। किन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा पर अडिग था। शराब न पीने के कारण उसकी हालत खराब हो रही थी····परन्तु उसके चेहरे पर नियम-पालन की दृढ़ता दिखाई दे रही थी। किसी ने शराब पीने का आग्रह भी किया, किन्तु बिना गाँठ खुले, उसने शराब पीने से इन्कार कर दिया।

कुछ समय के बाद उसकी मृत्यु हो गई और वह मरकर व्यन्तर देव बन गया।

• वंकचूल ने अपने जीवन में मात्र चार ही नियम लिए थे, किन्तु उन चार नियमों के फलस्वरूप वह वंकचूल बारहवें देवलोक का देव बन गया।

विरति धर्म की बहुत महिमा है। अविरति के कारण इस जीवात्मा की भयंकर दुर्दशा हुई है।

अविरति के कारण आत्मा प्रतिक्षण अनन्त कर्म परमाणुओं का बन्ध करती है, जिसके फलस्वरूप वह नरक और तिर्यंच गति के अनेक प्रकार के भयंकर कष्टों को सहन करती है। □

करि-झष-मधुपा रे, शलभ-मृगादयो,
विषय - विनोद - रसेन।
हन्त लभन्ते रे, विविधा वेदना,
बत परिणति-विरसेन॥ ९२॥

अर्थ—हाथी, मछली, भ्रमर, पतंगा तथा हिरण आदि विषयविलास के प्रेम के कारण अहा ! खेद है, बेचारे ! विविध वेदनाओं को प्राप्त करते हैं। वास्तव में, विषय की परिणति विरस (दुःखदायी) है ।। ९२ ।।

विवेचन

विषय की परिणति नीरस है

क्या आप जानते हैं ?—

स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत बने हाथी की क्या दशा होती है ? **रसनेन्द्रिय** की गुलाम बनी मछली कैसे बेहाल होती है ? **घ्राणेन्द्रिय** के गुलाम भ्रमर की कैसी भयंकर हालत होती है ? **चक्षुरिन्द्रिय** के गुलाम बने पतंगे की क्या हालत होती है ? और **श्रोत्रेन्द्रिय** के गुलाम हिरण की कैसी दुर्दशा होती है ?

बेचारा **हाथी** ! जीवन पर्यन्त का कैदी बन जाता है। बेचारी **मछली** ! मृत्यु के मुख में चली जाती है। बेचारा **भ्रमर** ! कमल की कैद में ही समाप्त हो जाता है। **पतंगा** तो तत्काल मृत्यु की भेंट हो जाता है और **हिरण** भी मृत्यु का शिकार बन जाता है।

एक-एक इन्द्रिय के एक-एक विषय की पराधीनता का भी यह भयंकर परिणाम है, तो जो मनुष्य अपनी पाँचों इन्द्रियों का गुलाम बनेगा, उसकी क्या हालत होगी ?

स्पर्श के सुख में आसक्त बने संभूतिमुनि चक्रवर्ती तो बन गए, किन्तु उसके परिणामस्वरूप ७वीं नरक-भूमि की भयंकर यातनाएँ उन्हें भोगनी पड़ीं।

रसना के गुलाम बने कंडरीक मुनि की क्या हालत हुई ? उन्हें भी ७वीं नरक भूमि का टिकिट मिल गया।

सीता के रूप के भ्रमर बने रावण की हालत से कौन अपरिचित है ? बेचारा ! चौथी नरक-भूमि का पथिक बन गया।

सावधान ! इन्द्रियों के विषय देखने में जितने सुन्दर हैं, उतने ही उनके परिणाम अतिभयंकर हैं। इन्द्रियों का आकर्षण बड़ा सुहावना है, किन्तु उनके चंगुल में फँस जाने के बाद भयंकर सजा ही भोगनी पड़ती है। इन्द्रियाँ तो ठग हैं, जो बोलने में मधुर हैं, दिखने में सुन्दर हैं, किन्तु उनके आकर्षण में फँसने के बाद उनके जाल में से बच निकलना अत्यन्त दुष्कर है।

ठीक ही कहा है—

आपात-मात्र-मधुरैर्विषयैर्विषसन्निभैः।
आत्मा मूर्च्छित एवाऽऽस्ते, स्वहिताय न चेतति ॥

विषय क्षणमात्र ही सुख को देने वाले हैं। उनकी मनोहरता व उनका सौन्दर्य क्षणजीवी ही है। ये विष के समान हैं। इन विषयों में मूर्च्छित आत्मा स्वहित के विवेक को खो देती है। □

उदित-कषाया रे, विषय-वशीकृता,
यान्ति महानरकेषु।
परिवर्तन्ते रे, नियतमनन्तशो,
जन्म - जरा - मरणेषु ॥ ९३ ॥

अर्थ—कषायों के उदय वाले और विषय के वशीभूत बने प्राणी भयंकर नरक में जाते हैं और निरन्तर जन्म, जरा और मरण के चक्र में अनन्त बार चक्कर लगाते रहते हैं ।। ९३ ।।

विवेचन

विषय-कषाय से ही भव-भ्रमण

महापुरुषों ने कहा है कि कषायों का उदय अति भयंकर होता है। क्रोध के आवेश में आत्मा विवेकभ्रष्ट हो जाती है। उसके सोचने-समझने को शक्ति समाप्त हो जातो है। आवेश में वह नहीं बोलने की बात बोल जाती है। आवेश में बोले गए शब्द तोर से भी अत्यन्त तीखे होते हैं। तीर का घाव तो औषधोपचार से दूर हो जाता है किन्तु वचन का घाव जीवन पर्यन्त बना रहता है।

'**प्रशमरति**' में **वाचक उमास्वातिजी म.** ने कहा है कि "क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय का नाश होता है, माया से विश्वास का घात होता है तथा लोभ से सर्वगुणों का नाश होता है।"

विषय और कषाय—राग और द्वेष स्वरूप हैं। वे आत्मा को भयंकर नरक में ले जाते हैं।

विषय के अनुराग और कषाय के आवेश से आत्मा इस भीषण संसार में अनन्त बार जन्म, जरा और मरण की वेदना सहन करती है। नरक की भयंकर यातनाओं का कारण भी विषय-कषाय की पराधीनता-परवशता ही है। अज्ञानी/मोहाधीन आत्मा इन्द्रियों के सानुकूल विषयों को पाकर तुरन्त

मोहित हो जाती है, परन्तु उसके परिणाम का विचार नहीं कर पाता है, जिसके फलस्वरूप आत्मा को अनन्त बार जन्म-मरण करना पड़ता है।

आत्मा के भव-भ्रमण का कोई मूल कारण है तो विषय और कषाय ही है। मूल के बिना वृक्ष का अस्तित्व टिक नहीं सकता, उसी प्रकार विषय-कषाय के बिना आत्मा का संसार भी टिक नहीं सकता है। मूल के कमजोर होते ही वृक्ष धराशायी बन जाता है, उसी प्रकार विषय-कषाय की वृत्ति-प्रवृत्ति क्षीण होते ही आत्मा के भव-भ्रमण का अन्त आ जाता है। इस अमूल्य मानव-जीवन के प्रत्येक पल का उपयोग विषय-कषाय के जाल को तोड़ने के लिए ही होना चाहिये। ☐

मनसा वाचा रे, वपुषा चञ्चला,
दुर्जय - दुरित - भरेण।
उपलिप्यन्ते रे, तत आस्रवजये,
यततां कृतमपरेण ।। ९४ ।।

अर्थ—मन, वचन और काया की चंचलता से प्राणी दुर्जय ऐसे पाप के भार से लिप्त हो जाता है, अतः आस्रव-जय के लिए प्रयत्न करो। अन्य सब प्रयत्न बेकार हैं ।। ९४ ।।

विवेचन

आस्रव जय के लिए प्रयत्न करो

मानव-जीवन में अत्यन्त ही दुर्लभता से सचेतन (जागृत) मन की प्राप्ति हुई है। चतुर्गति रूप संसार में देव का वैक्रिय देह

अधिक महत्त्वपूर्ण और दुर्लभ नहीं है, किन्तु मानव के औदारिक देह की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि मुक्ति की साधना का एकमात्र सामर्थ्य मानव-देह में ही है। शुक्लध्यान, क्षपकश्रेणी, केवलज्ञान इत्यादि का एकमात्र एकाधिकार मानव को ही है। देव के पास तेजस्वी रूप है, बलवती काया है, दीर्घ आयुष्य है, विशाल वैभव-सुख है। बाह्य भौतिक वैभव से देवता समृद्ध होते हुए भी उनमें मोक्ष की साधना का वह सामर्थ्य नहीं है, जो मानव के पास में है।

मानव का देह भले ही गन्दगी का ढेर है, फिर भी मोक्ष की साधना का सामर्थ्य मानव में ही है।

मोक्ष की साधना तभी हो सकती है, जब मन-वचन और काया पर अंकुश रखा जाय, किन्तु यदि इन पर किसी प्रकार का अंकुश न रखा जाय तो ये ही मन-वचन आदि मानव को ७वीं नरक-भूमि की अतल गहराई में डाल देते हैं। सर्प, सिंह अपने जीवन में भयंकर हिंसा करने के बावजूद भी तीसरे-चौथे नरक तक ही जाते हैं, किन्तु मानव बाह्य हिंसा न करते हुए भी मन में रौद्रध्यान आदि करे तो वह मरकर ७वीं नरक-भूमि में भी जा सकता है।

मानव यदि मन पर अंकुश न रखे तो यह चंचल मन मानव को अधोगति में ले जा सकता है।

मन को वश में करना अत्यन्त ही कठिन काम है। योगियों को भी मन का वशीकरण अत्यन्त कठिन है। तभी तो पूज्य आनन्दघनजी म. ने प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा है—

मनडुं किम ही न बाजे हो कुंथु जिन, मनडुं किम ही न बाजे।
जिम-जिम जतन करी ने राखुं, तिम-तिम अलगो भाजे हो॥
कुंथु जिन.....

आगे जाकर उन्होंने यही कहा है—

'मन साध्यु तेणे सघलु साध्युं, एह वात नवि खोटी।

इस प्रकार मन के वशीकरण की साधना अत्यन्त ही कठिन है।

अतः दुर्लभता से प्राप्त मानव-जीवन का पुरुषार्थ मन-वचन और काया के योगों के वशीकरण के लिए ही होना चाहिये।

पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि मन, वचन और काया की चंचलता से आत्मा में आस्रव के द्वार खुल जाते हैं और आत्मा कर्म के कीचड़ में फँस जाती है। अतः प्रयत्न करके आस्रवजय के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये। □

शुद्धा योगा रे, यदपि यतात्मनां,
स्रवन्ते शुभकर्माणि।
काञ्चन-निगडांस्तान्यपि जानीयात्,
हत-निर्वृति-शर्माणि ॥ ९५ ॥

अर्थ—यद्यपि संयमी आत्माएँ शुद्ध योगों के द्वारा शुभकर्मों का आस्रव करती हैं, उनको भी स्वर्ण की बेड़ियाँ समझो, क्योंकि वे भी मोक्षसुख में प्रतिबन्धक हैं॥ ९५॥

विवेचन

शुभ कर्म से शुभ आस्रव

मन-वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्म का आस्रव होता है। मुक्ति की अभिलाषी आत्मा तो कर्म से मुक्त बनना चाहती है, अतः कर्म-मुक्ति के लिए कर्मों की निर्जरा आवश्यक है निर्जरा से कर्मों का क्षय होता है और कर्म-क्षय से आत्मा मुक्त बनती है।

शुभ कर्म के उदय से आत्मा को शुभ फल की प्राप्ति होती है। कर्म के बन्ध के बाद उसका फल उन्हें भोगना ही पड़ता है।

बेड़ी तो आखिर बेड़ी है, भले ही लोहे के बदले सोने की हो। इसी प्रकार शुभ कर्म भी आखिर तो कर्म हैं और कर्म होने के नाते आत्मा के लिए बन्धन रूप ही हैं।

इसीलिए तो साधु भगवन्तों के लिए निर्जरा की प्रधानता है, अतः उनके लिए द्रव्यदान, द्रव्य-पूजा आदि का निषेध है।

अष्टक प्रकरण में आचार्य श्री हरिभद्र सूरिजी म. ने कहा है कि—

दया भूतेषु वैराग्यं, विधिवद् गुरुपूजनम्।
विशुद्धा शीलवृत्तिश्च, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः॥

दुःखी प्राणियों पर अनुकम्पा, वैराग्य, विधिपूर्वक देव गुरु का पूजन, विशुद्धशीलवृत्ति आदि पुण्यानुबन्धी पुण्य को देने वाले हैं।

संयमी साधु भगवन्तों के लिए एकान्त-गोचरी (भोजन)

का जो विधान है, उसके पीछे भी यही उद्देश्य है। उन्होंने कहा है कि—

पुण्यादिपरिहाराय, मतं प्रच्छन्न-भोजनम्।

अर्थात् पुण्य के परिहार के लिए ही संयमी के लिए एकान्त भोजन का नियम है।

अतः शुभ आस्रव तत्त्व के बोध के साथ-साथ शुभ आस्रव तत्त्व के स्वरूप को भी जान लेना चाहिये, ताकि अपनी-अपनी भूमिकानुसार इनका सेवन अथवा त्याग किया जा सके। □

मोदस्वैवं रे, सास्रव - पाप्मनां,
रोधे धियमाधाय।
शान्त - सुधारस - पानमनारतं,
विनय विधाय विधाय॥ ९६॥

अर्थ—हे विनय! आस्रव सहित पापात्मा के विरोध में अपनी बुद्धि को लगा और शान्त सुधारस का पान करके आनन्द प्राप्त कर॥ ९६॥

विवेचन

शान्तरस का पान करो

अन्तिम गाथा में पूज्य उपाध्यायजी म. अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे विनय! हे आत्मन्! आस्रव तत्त्व के स्वरूप को समझकर उसके निरोध में प्रयत्नशील बन।

एक छोटा सा बालक आग में हाथ डालने की चेष्टा तभी तक करता है, जब तक उसे यह पता नहीं चलता कि यह आग मुझे जलाने वाली है। आग की भयंकरता का अनुभव हो जाने के बाद अथवा उसे जान लेने के बाद वह बालक भी पुनः आग में हाथ डालने की चेष्टा नहीं करता है।

परन्तु हम तो समझदार हैं, विवेकी हैं, अपने हिताहित को सोचने का हम में सामर्थ्य है; फिर भी मोह के वशीभूत होकर यह आत्मा शत्रुभूत आस्रव के संग में डूब जाती है। अज्ञानी है यह आत्मा। नादान है। इसीलिए बड़े ही प्रेम से सम्बोधित करते हुए उपाध्यायजी म. कहते हैं कि आस्रव के कड़वे फलों का तुमने बहुत बार अनुभव कर लिया है। अतः अब सावधान बन जाओ और उनके निरोध के लिए प्रयत्नशील बनो।

शत्रु से संरक्षण कर लेने के बाद मनुष्य कितना सुखी बनता है। बस, इन आस्रवों का त्याग कर तू बारम्बार शान्त-अमृतरस का पान कर, पान कर। इस अमृतरस के आस्वादन से तुझे परम आनन्द की अनुभूति होगी।

आस्रव से मुक्त होने के बाद आत्मा स्वभाव दशा में आ जाती है। सागर जब अपनी स्वभाविक दशा में होता है, तब कितना शान्त और गम्भीर होता है, किसी प्रकार का कोलाहल नहीं।

आत्मा की स्वभाव दशा में भी परम आनन्द का अनुभव होता है।

पूज्य विनयविजयजी म. यही शुभेच्छा और शुभकामना व्यक्त करते हैं कि हे आत्मन्! तू बारबार इस शान्तरस का अमीपान कर। यही परमानन्द-मुक्ति का बीज है। □

8

संवर भावना

येन येन य इहास्रवरोधः,
सम्भवेन्नियतमौपयिकेन ।
आद्रियस्व विनयोद्यतचेता-
स्तत्तदान्तरदृशा परिभाव्य ।। ९७ ।।
(स्वागता)

अर्थ—हे विनय ! जिन-जिन नियत उपायों के द्वारा आस्रवों का रोध हो सकता हो, अन्तर्दृष्टि से उनका विचार कर, उद्यत चित्त वाला बनकर उनका आदर कर (उनका उपयोग कर) ।। ९७ ।।

विवेचन

संवर का स्वरूप

वाचकवर्य पूज्य उमास्वातिजी म. ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है—'आस्रवनिरोधः संवरः' आस्रव का निरोध करना संवर कहलाता है। आस्रव अर्थात् आत्मा में कर्म के आगमन के द्वार। उन द्वारों को जिससे रोका जाता है, उन्हें संवर कहते हैं।

नाव में छिद्र पड़ गये हों और उनमें से नाव में जल प्रवेश

करता हो तो नाव को बचाने के लिए सर्वप्रथम छिद्रों को बंद करना अनिवार्य है। इसी प्रकार जीवात्मा में भी जिन-जिन मार्गों से कर्मों का आगमन होता हो, उन मार्गों को रोकना अत्यन्त अनिवार्य है।

'नवतत्त्व' में संवर तत्त्व के ५७ भेद बताये गए हैं। उनके स्वरूप को भी समझ लेना अनिवार्य है—

५ समिति,
३ गुप्ति,
१० यतिधर्म,
१२ भावना,
२२ परीषह और ५ चारित्र।

(1) पाँच समिति

समिति अर्थात् सम्यग् व उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति। इसके ५ भेद हैं—

१. **ईर्या समिति**—साढ़े तीन हाथ भूमि पर दृष्टि डालते हुए यतनापूर्वक चलना और किसी प्रकार के जीव की हिंसा न हो जाय, इसको सावधानी रखना, इसे ईर्या समिति कहते हैं।

२. **भाषा समिति**—हित, मित, सत्य, प्रिय वचन उपयोग (सावधानी) पूर्वक बोलने को भाषा समिति कहते हैं।

३. **ऐषणा समिति**—शास्त्र में निर्दिष्ट विधि के अनुसार गोचरी के ४२ दोषों के त्यागपूर्वक आहार ग्रहण करने को ऐषणा समिति कहते हैं।

४. **आदानभंडमत्तनिक्षेपणा समिति**—किसी भी वस्तु को उठाते या रखते समय उपयोग रखना कि किसी जीव की हिंसा न हो जाय, उसे आदानभंडमत्तनिक्षेपणा समिति कहते हैं।

५. **पारिष्ठापनिका समिति**—मल-मूत्र आदि का निर्जीव भूमि में उपयोगपूर्वक विसर्जन करने को पारिष्ठापनिका समिति कहते हैं।

(2) तीन गुप्तियाँ

१. **मनोगुप्ति**—मन की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध करना और शुभ में प्रवृत्ति करना मनोगुप्ति है। समिति में सम्यग् आचरण की मुख्यता है और गुप्ति में अप्रशस्त के निरोध की मुख्यता है।

मनोगुप्ति के तीन प्रकार हैं—

(अ) **अकुशल निवृत्ति**—आर्त्त और रौद्रध्यान के विचारों का त्याग करना **'अकुशल निवृत्ति'** मनोगुप्ति है।

(आ) **कुशल प्रवृत्ति**—धर्मध्यान और शुक्लध्यान में मन का प्रवर्तन करना कुशल प्रवृत्ति मनोगुप्ति है।

(इ) **योगनिरोध**—मन की कुशल-अकुशल सर्व प्रवृत्ति का निरोध करना योगनिरोध मनोगुप्ति है, जो चौदहवें गुणस्थानक में होती है।

२. **वचन गुप्ति**—सावद्य वचन का त्याग कर, अनिवार्य परिस्थिति में ही हितकारी व निरवद्य वचन बोलना वचनगुप्ति कहलाती है।

इसके भी दो प्रकार हैं—

(अ) मौनावलंबिनी वचनगुप्ति—शिरकम्पन, हस्तचालन तथा संकेत आदि का त्याग करना मौनावलंबिनी वचनगुप्ति है।

(आ) वाग्नियमिनी वचनगुप्ति—वाचना आदि के विशेष प्रसंग पर यतनापूर्वक बोलना वाग्नियमिनी वचनगुप्ति कहलाती है।

३. कायगुप्ति—काया द्वारा अशुभ प्रवृत्ति का त्याग और शुभ में प्रवृत्ति कायगुप्ति है।

इसके दो भेद हैं—

(अ) चेष्टा निवृत्ति रूप कायगुप्ति—उपसर्ग आदि के प्रसंग में भी काया को चलित न करना, चेष्टा निवृत्ति रूप कायगुप्ति कहलाती है।

(आ) सूत्र चेष्टा नियमिनी कायगुप्ति—शास्त्र में विहित मार्गानुसार गमनागमन आदि की प्रवृत्ति करना।

(3) बावीस परीषह

१. क्षुधा परीषह—बयालीस दोष से रहित भिक्षा न मिलने पर भूख को सहन करने को क्षुधा परीषह कहते हैं।

२. तृषा परीषह—जोरदार प्यास लगने पर भी दोषयुक्त पानी नहीं पीना और तृषा को सहन करना उसे तृषा परीषह कहते हैं।

३. शीत परीषह—अत्यधिक सर्दी पड़ने पर भी उसे इच्छापूर्वक सहन करना, किन्तु अग्नि आदि की इच्छा न करना।

४. **उष्ण परीषह**—भयंकर गर्मी पड़ने पर भी उसे सहन करना, किन्तु उससे बचने के लिए दोषित शीतोपचार का सेवन नहीं करना ।

५. **दंश परीषह**—मच्छर, मक्खी आदि के दंश को इच्छा-पूर्वक सहन करना, दंश परीषह कहलाता है ।

६. **अचेलक परीषह**—जीर्ण-शीर्ण वस्त्र होने पर भी अच्छे वस्त्रों को इच्छा न करना और हल्के और फटे पुराने वस्त्रों में दीनता न करना ।

७. **अरति परीषह**—संयम मार्ग में विचरण करते हुए प्रतिकूल संयोग मिलने पर भी किसी प्रकार की अरति-अरुचि नहीं रखना अरति-परीषह है ।

८. **स्त्री परीषह**—विषयसेवन की प्रार्थना करने पर भी किसी स्त्री के अधीन न बनना स्त्री-परीषह कहलाता है ।

९. **चर्या परीषह**—रागादि से आसक्त बनकर किसी एक स्थान पर नहीं रहना और निरन्तर विहार आदि के कष्टों को सहन करना चर्या परीषह है ।

१०. **नैषिधिकी परीषह**—श्मशान आदि एकान्त स्थान में स्थिर आसनपूर्वक कायोत्सर्ग में रहना ।

११. **शय्या परीषह**—सोने की शय्या प्रतिकूल हो, ऊँची-नीची हो, फिर भी मन में किसी प्रकार का रोष न करना और कष्ट को सहन करना 'शय्या परीषह' है ।

१२. **आक्रोश परीषह**—कोई गुस्सा करे तो भी गुस्सा न करना और उसे सहन करना 'आक्रोश परीषह' है ।

१३. **वध परीषह**—कोई मारपीट करे तो भी उसे सहन करना वध परीषह है।

१४. **याचना परीषह**—भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर याचना करते समय मन में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होना, याचना परीषह है।

१५. **अलाभ परीषह**—गोचरी आदि के लिए भ्रमण करते हुए भी यदि इष्ट वस्तु न मिले तो भी उसे सहन करना। किन्तु गृहस्थ पर रोष नहीं करना।

१६. **रोग परीषह**—संयमग्रहण के बाद शरीर में किसी प्रकार की बीमारी आ जाय तो भी किसी प्रकार की हाय-हाय किये बिना उसे समतापूर्वक सहन करना रोग परीषह है।

१७. **तृणस्पर्श परीषह**—शय्या अथवा आसन पर घास आदि के तिनके हों तो उनसे होने वाली वेदना को सहन करना तृणस्पर्श परीषह कहलाता है।

१८. **मल परीषह**—शरीर पर मैल बढ़ गया हो, फिर भी स्नान की इच्छा न कर उसे सहन करना मल परीषह है।

१९. **सत्कार परीषह**—नगरजनों की ओर से भव्य स्वागत किया जाय, फिर भी उसमें राग न करना।

२०. **प्रज्ञा परीषह**—असाधारण बुद्धि की प्राप्ति होने पर भी उसका अभिमान न करना, ज्ञान का अजीर्ण-अभिमान न होने देना।

२१. **अज्ञान परीषह**—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से ज्ञान न चढ़े तो भी खेद नहीं करना और ज्ञान-प्राप्ति के लिए यथाशक्य प्रयत्न करना।

२२. सम्यक्त्व परीषह—सम्यक्त्व से चलित करने के लिए कोई कितना ही उपसर्ग करे, फिर भी सम्यक्त्व से चलित नहीं होना।

(4) दस यति धर्म

१. क्षमा—क्रोध के प्रसंग में भी क्रोध नहीं करना; चित्त को शान्त और स्थिर रखना। इस क्षमा के ५ भेद हैं—

(क) उपकार क्षमा—किसी ने अपने पर उपकार किया हो, वह व्यक्ति अपने पर गुस्सा करे और हम यह सोचकर कि 'यदि मैं गुस्सा करूंगा तो यह व्यक्ति मुझ पर उपकार नहीं करेगा' उसके गुस्से को सहन करना उपकार क्षमा कहलाती है।

(ख) अपकार क्षमा—किसी ने अपने पर गुस्सा किया हो और यह सोचकर उस गुस्से को सहन कर ले कि 'यदि मैं गुस्सा करूंगा तो मुझे मारपीट आदि सहन करनी पड़ेगी अतः मौन रहना ही उचित है'–अपकार क्षमा है।

(ग) विपाक क्षमा—'यदि मैं गुस्सा करूंगा तो इससे मुझे कर्मबंध हो जाएगा....मुझे बुरे परिणाम भोगने पड़ेंगे', ऐसा सोचकर दूसरे के गुस्से को सहन करना विपाक क्षमा कहलाती है।

(घ) वचन क्षमा—'भगवान ने गुस्सा करने का निषेध किया है' इस प्रकार भगवद् वचन को याद कर क्षमा धारण करना वचन क्षमा है।

(ङ) धर्म क्षमा—'क्षमा तो मेरी आत्मा का धर्म है' इस

प्रकार क्षमा को आत्मस्वभाव मानकर दूसरे के गुस्से को सहन करना धर्म क्षमा है।

इन पाँच प्रकार की क्षमा में चौथी क्षमा श्रेष्ठ तथा पाँचवीं सर्वश्रेष्ठ है।

२. **आर्जव**—मन में किसी प्रकार की माया धारण नहीं करना और सरलता रखना।

३. **मार्दव**—किसी प्रकार का अभिमान नहीं करना और नम्र बनने का प्रयत्न करना। पुण्य के उदय से सुकुल-उत्तम जाति आदि की प्राप्ति हुई हो, फिर भी लेश भी अहंकार नहीं करना।

४. **मुक्ति**—मुक्ति अर्थात् लोभजय। प्राप्त वस्तुओं में सन्तोष धारण करना। अनुकूल व अप्राप्त पदार्थों को पाने की लालसा नहीं रखना।

५. **तप**—तप अर्थात् इच्छाओं का निरोध करना। आहार की लालसा, इन्द्रियों के भोग तथा कषाय-जय के लिए यथाशक्य बाह्य व अभ्यन्तर तप का आचरण करना।

६. **संयम**—आत्म-गुणों के विकास के लिए चारित्र धर्म की आराधना करना संयम कहलाता है। इसके सत्रह भेद हैं—

पाँच महाव्रतों का पालन

(1) **सर्वथा प्राणातिपात विरमण महाव्रत**—मन, वचन, काया से हिंसा करनी नहीं, दूसरों से हिंसा करवानी नहीं और हिंसा करते हुए की अनुमोदना करनी नहीं।

(2) **सर्वथा मृषावाद विरमण महाव्रत**—मन, वचन और काया से झूठ बोलना नहीं, दूसरे से बुलवाना नहीं और झूठ बोलते हुए की अनुमोदना करनी नहीं।

(3) **सर्वथा अदत्तादान विरमण महाव्रत**—मन, वचन और काया से चोरी करना नहीं, दूसरे से करवाना नहीं और चोरी करने वाले की अनुमोदना नहीं करनी।

(4) **सर्वथा मैथुन विरमण महाव्रत**—मन, वचन और काया से मैथुन का सेवन करना नहीं, दूसरे से करवाना नहीं और करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करना।

(5) **सर्वथा परिग्रह विरमण महाव्रत**—मन, वचन और काया से परिग्रह धारण करना नहीं, करवाना नहीं और परिग्रह धारण करने वाले की अनुमोदना भी नहीं करना।

पाँच इन्द्रिय निग्रह

(6) **श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह**—कान से निन्दा, अश्लील गीत आदि के श्रवण का त्याग करना।

(7) **चक्षुरिन्द्रिय निग्रह**—आँख से स्त्री के अंगोपांग दर्शन, सिनेमा, नाटक आदि देखने का त्याग करना।

(8) **घ्राणेन्द्रिय निग्रह**—सुगन्धित पदार्थ, बगीचे में भ्रमण आदि का त्याग करना।

(9) **रसनेन्द्रिय निग्रह**—स्वादिष्ट भोजन आदि की आसक्ति का त्याग करना।

(10) **स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह**—मुलायम व कोमल गद्दे तथा स्त्री के स्पर्श आदि का त्याग करना ।

चार कषाय-जय

(11) **क्रोध जय**—क्रोध के प्रसंग में क्रोध न करना ।

(12) **मान जय**—किसी वस्तु का अभिमान नहीं करना ।

(13) **माया जय**—किसी के साथ मायाचार नहीं करना ।

(14) **लोभ जय**—प्राप्त वस्तु में सन्तोष धारण करना ।

तीन योग

(15) **मन योग**—मन से अशुभ चिन्तन का त्याग करना और शुभ चिन्तन करना ।

(16) **वचन योग**—वाणी से असत्य, अप्रिय तथा अहितकर वचन-प्रवृत्ति का त्याग करना और प्रिय व पथ्य वचन बोलना ।

(17) **काय योग**—काया की अशुभ चेष्टाओं का त्याग करना और शुभ में प्रवृत्ति करना ।

७. **सत्य**—प्रिय, पथ्य, सत्य और हितकर वचन बोलना ।

८. **शौच धर्म**—मन को पवित्र व शुद्ध रखना । मानसिक अध्यवसायों की परिणति को शुभ व शुद्ध रखना ।

९. **आकिंचन्य**—किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखना ।

१०. **ब्रह्मचर्य**—मैथुन का त्याग कर आत्मभाव में रमण करना ब्रह्मचर्य धर्म है ।

(5) बारह भावनाएँ

१. **अनित्य भावना**—संसार की अनित्यता का विचार करना।

२. **अशरण भावना**—'संसार में मेरा कोई शरण्य नहीं है।' इस प्रकार की भावना से आत्मा को भावित करना।

३. **संसार भावना**—संसार में आत्मा के भवभ्रमण का विचार करना।

४. **एकत्व भावना**—आत्मा के 'एकत्व' भाव का विचार करना।

५. **अन्यत्व भावना**—देहादि से आत्मा की भिन्नता का विचार करना।

६. **अशुचिभावना**—शरीर की अपवित्रता तथा मलिनता का विचार करना।

७. **आस्रव भावना**—आत्मा में कर्मों के आगमन-द्वारों का विचार करना।

८. **संवर भावना**—आत्मा में कर्म के आगमन को रोकने का चिन्तन करना।

९. **निर्जरा भावना**—कर्म-क्षय के उपायों का चिन्तन करना।

१०. **लोकस्वरूप भावना**—सचराचर जगत् के स्वरूप का विचार करना।

११. **धर्म भावना**—धर्म के स्वरूप का विचार करना।

१२. **बोधिदुर्लभ भावना**—इस भवसागर में सम्यक्त्व की दुर्लभता का विचार करना।

(6) पाँच चारित्र

१. **सामायिक चारित्र**—जिस चारित्र से आत्मा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण प्रगट हों, आत्मा में समता-शान्ति पैदा हो, उसे सामायिक चारित्र कहते हैं। यह चारित्र सावद्य-प्रवृत्ति के त्यागस्वरूप है। इसके दो भेद हैं—

(अ) **इत्वर कथित सामायिक**—जो सामायिक अल्प समय के लिए हो। जैसे—४८ मिनट की सामायिक।

(आ) **यावत्कथित सामायिक**—जिस सामायिक की प्रतिज्ञा जीवन पर्यन्त हो उसे यावत्कथित सामायिक कहते हैं।

२. **छेदोपस्थापनीय**—पूर्व चारित्र का छेद कर पुनः महाव्रतों के आरोपण को छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।

३. **परिहारविशुद्धि**—गच्छ का त्याग कर यथाविधि विशिष्ट तप का आचरण करना, जिससे चारित्र की विशेष शुद्धि हो, उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं।

४. **सूक्ष्म संपराय**—जहाँ लोभ का सूक्ष्म उदय हो उसे सूक्ष्म संपराय चारित्र कहते हैं।

५. **यथाख्यात चारित्र**—जिनेश्वरदेव ने चारित्र का जो स्वरूप कहा है, अर्थात् राग-द्वेष की अवस्था से रहित चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है। इसके दो भेद हैं—

(अ) उपशांत यथाख्यात चारित्र—यह चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान में होता है, जहाँ कषायों का सर्वथा उपशमन हो जाता है। इस अवस्था से पतन अवश्य होता है।

(आ) क्षायिक यथाख्यात चारित्र—जहाँ राग-द्वेष का सर्वथा क्षय हो जाता है, यह चारित्र बारहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है।

पूज्य उपाध्यायजी म. संवर भावना की प्रस्तावना करते हुए अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए फरमाते हैं कि अपनी आत्मा में जिन-जिन द्वारों से कर्मों का आगमन जारी हो, उन द्वारों को बन्द करने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिये।

शरीर में जैसा रोग हो, उसके अनुसार उसका उपचार किया जाता है। बस, इसी प्रकार से यदि जीवन में क्रोध की प्रबलता हो तो उसे रोकने के लिए 'क्षमा' की दवा लेनी चाहिये।

दुनिया में कई गुप्त रोग प्रचलित हैं, जिनका पता मात्र रोगी को ही होता है, क्योंकि वे रोग बाहर से दिखाई नहीं देते हैं। इसी प्रकार अपनी आत्मा के अंतरंग रोगों को भी हम ही जान सकते हैं। रोग की जानकारी के बाद ही उसका निदान किया जा सकता है। बिना जानकारी के उपचार करना हानिकर भी हो सकता है। इसी प्रकार आस्रव भावना के द्वारा महापुरुषों ने अपनी आत्मा के रोगों की पहचान कराई है, उन रोगों के निराकरण के लिए 'संवर' का उपाय भी बतलाया है। □

संयमेन विषयाविरतत्वे ,
दर्शनेन वितथाभिनिवेशम् ।
ध्यानमार्तमथ रौद्रमजस्रं ,
चेतसः स्थिरतया च निरुन्ध्याः ।। ९८ ।।
(स्वागता)

अर्थ—संयम से इन्द्रियविषयों और अविरति को, सम्यक्त्व से मिथ्या आग्रह को तथा चित्त के स्थैर्य से आर्त और रौद्रध्यान को दबा दो ।। ९८ ।।

विवेचन

संयम का पालन करो

मानव को प्राप्त इन्द्रियाँ स्वभाव से चंचल हैं और दुष्प्रवृत्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहती हैं, अतः उन विषयों से विरमण के लिए संयम के हथियार का उपयोग करना चाहिये ।

संयम अर्थात् अंकुश ।

जिस प्रकार चंचल हाथी को रोकने के लिए अंकुश काम में लिया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के विषय आदि से मन को रोकने के लिए विरति धर्म का आश्रय करना अत्यन्त आवश्यक है ।

अविरति पर विजय पाने का एकमात्र साधन विरति धर्म की आराधना है ।

विरति अर्थात् पापत्याग की प्रतिज्ञा । पाप-त्याग की

प्रतिज्ञा अंगीकार करने से व्यक्ति का मनोबल मजबूत हो जाता है।

कई व्यक्ति प्रतिज्ञा ग्रहण करने से डरते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार का भय मनुष्य के मनोबल को कमजोर बनाता है। प्रतिज्ञा ग्रहण करने से तो प्रतिज्ञाभंग के प्रसंग में दृढ़ रहने का बल मिलता है।

भोजन में तीव्र आसक्ति हो तो प्रतिदिन एक-दो विगई के त्याग द्वारा उस आसक्ति पर प्रहार कर सकते हैं।

संयम से दो लाभ हैं—(१) इन्द्रियों के आस्रव का निरोध होता है और (२) अविरति के आस्रवद्वार का भी निरोध हो जाता है।

मिथ्यात्व के आस्रवद्वार को रोकने के लिए सम्यग्दर्शन की साधना करनी चाहिये। शास्त्रों में सम्यक्त्व की प्राप्ति के पाँच लक्षण बताये गए हैं—

(१) **उपशम**—उपशम अर्थात् क्रोधादि कषायों का उपशमन। सम्यग्दृष्टि आत्मा में कषायों की मन्दता होती है। अनन्तानुबन्धी कषाय से सम्यक्त्व का घात होता है। अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए कषायों का उपशमन अवश्य करना चाहिये।

(२) **संवेग**—संवेग अर्थात् मोक्ष का तीव्र अनुराग। कहा गया है कि—

'सुर नर सुख जे दुःख करी लेखवे, वंछे शिवसुख एक।'

अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा के हृदय में एकमात्र मोक्ष-सुख

की प्राप्ति के लिए ही तड़फन होती है, वह आत्मा संसार के समस्त सुखों को दु:ख रूप ही मानती है। उसे संसार के सुख में कोई रस नहीं होता है।

(३) **भव निर्वेद**—सम्यग्दृष्टि आत्मा को यह संसार कारावास के समान प्रतीत होता है। उसे इस संसार से तीव्र विरक्ति होती है। वह आत्मा इस भव-बन्धन से सदा मुक्त बनना चाहती है।

(४) **अनुकम्पा**—सम्यग्दृष्टि आत्मा के हृदय में दु:खी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा होती है।

(५) **आस्तिक्य**—सम्यग्दृष्टि आत्मा के हृदय में जिनेश्वर-देव के वचन के प्रति तीव्र आस्था होती है। **'तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं'** वही सत्य और नि:शंक है जो जिनेश्वरदेवों ने कहा है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की साधना द्वारा मिथ्यात्व को दूर करने का प्रयास करना चाहिये।

मन में आर्त और रौद्रध्यान करने से भी अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। आर्तध्यान के समय आयुष्य का बन्ध हो तो व्यक्ति मरकर तिर्यंच गति में जाता है और रौद्रध्यान से आत्मा नरकगति में जाती है।

आर्तध्यान के चार भेद हैं—

(१) **अनिष्ट वियोग**—जो स्वयं को प्रिय न हो, ऐसे शब्द, रूप, रस आदि का संसर्ग हो गया हो तो उनके वियोग की सतत चिन्ता करना।

(२) **इष्टसंयोग चिन्ता**—जो रूप, रस आदि अत्यन्त प्रिय हों, उनके संयोग की सदा चिन्ता करना।

(३) **रोग चिन्ता**—शरीर में किसी प्रकार का रोग हो गया हो तो उसके निवारण की सतत चिन्ता करना।

(४) **निदान**—धर्म के फलस्वरूप इस लोक तथा परलोक में सांसारिक फल की कामना करना।

रौद्रध्यान के चार प्रकार—

(१) **हिंसानुबन्धी**—अनन्तानुबन्धी क्रोध के उदयपूर्वक किसी को मार डालने आदि का ध्यान (विचार) करना।

(२) **मृषानुबन्धी**—विश्वासघात करने वाले, अत्यन्त क्रूरतम झूठ का विचार करना।

(३) **स्तेयानुबन्धी**—दूसरे के धन को लूटने का चिन्तन करना।

(४) **परिग्रह संरक्षणानुबन्धी**—प्राप्त किए धन के संरक्षण का तीव्र चिन्तन करना।

शुभ ध्यान में मन को स्थिर कर उपर्युक्त अशुभ ध्यान से मन को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। □

क्रोधं क्षान्त्या मार्दवेनाभिमानम्,
हन्या मायामार्जवेनोज्ज्वलेन।
लोभं वारांराशिरौद्रं निरुंध्या,
संतोषेण प्रांशुना सेतुनेव ॥ ९९ ॥
(शालिनी)

अर्थ—क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, निर्मल सरलता से माया को तथा अति उच्च दीवार वाले बाँध (सेतु) सन्तोष से लोभ को दबा दो ।। ९९ ।।

विवेचन

कषायों का रोध करो

पूज्य उपाध्यायजी म. इस गाथा में चार भयंकर रोगों की चार दवाएँ बतला रहे हैं। यदि आपको क्रोध का रोग है तो 'क्षमा' की गोली लो; आपका रोग दूर हो जाएगा। यदि मान का बुखार चढ़ गया हो तो मार्दव की दवाई लो, आपका मान तुरन्त उतर जाएगा। यदि माया का घाव लग गया है तो पवित्र आर्जव (सरलता) से उस घाव को भर दो और यदि लोभ का सिरदर्द हो तो उसे सन्तोष की गोली से उतार दो।

क्रोध रोग है तो क्षमा उसका उपचार है।

जब-जब भी क्रोध आवे, तब इस प्रकार विचार करना चाहिये—

(१) कोई अपने पर गुस्सा करे तब यह विचार करें कि 'इसमें दोष किसका है? यदि मेरी भूल है तो मुझे पुनः गुस्सा करने की क्या जरूरत है? और यदि मेरी भूल नहीं है तो मुझे गुस्सा करने को क्या जरूरत है? वह व्यक्ति तो गुस्सा कर स्वयं ही सजा भोग रहा है, व्यर्थ ही मैं गुस्सा कर उसकी भूल का फल क्यों भोगूं?'

(२) क्रोध के प्रसंग में यह विचार करें कि 'क्रोध तो

आत्मा की विभाव दशा है। अतः मैं अपनी आत्मा को स्वभाव दशा से विभाव की ओर क्यों ले जाऊं ?'

(३) कोई व्यक्ति क्रोध करता है, तब यह विचार करें कि यह तो मात्र आक्रोश कर रहा है, मुझे मार तो नहीं रहा है, कोई लकड़ी से मार भी दे तो विचार करें कि मुझे जीवन से खत्म तो नहीं कर रहा है। कोई मार भी डाले तो विचार करें कि मुझे धर्म से च्युत तो नहीं कर रहा है।

(४) कोई व्यक्ति अपने पर गुस्सा करे, मारपीट करे तो विचार करें कि इसमें उस व्यक्ति का कोई दोष नहीं है, मेरे ही पूर्वकृत कर्म का दोष है।

(५) क्रोध के तात्कालिक फल का विचार करें कि क्रोध करने से शुभ ध्यान का भंग हो जाता है। क्रोध करने से चित्त की प्रसन्नता नष्ट हो जाती है। मुँह लाल हो जाता है और शरीर में अकारण कम्पन पैदा होती है।

इस प्रकार के चिन्तन द्वारा क्रोध के प्रसंग को निष्फल करने का प्रयास करना चाहिये।

अभिमान को जीतने का उपाय है—मृदुता-कोमलता और नम्रता। अभिमान को दूर करने का सर्वश्रेष्ठ मंत्र है—पंच परमेष्ठी को नमस्कार और उनकी शरणागति का स्वीकार। परमेष्ठी भगवन्त क्रोधादि कषायों से सर्वथा रहित हैं और सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हैं। ऐसे परमेष्ठी भगवन्तों के नित्य स्मरण, जाप-ध्यान से अपना अभिमान नष्ट होने लगता है।

अभिमान पतन का कारण है। अभिमान के प्रसंग पर निम्नलिखित दृष्टान्तों का विचार करें—

(१) जाति के अभिमान प्रसंग में हरिकेशी का विचार करें। जातिमद के कारण उनका चाण्डाल कुल में जन्म हुआ।

(२) कुलमद के कारण मरीचि को एक कोटा-कोटि सागरोपम तक भवभ्रमण करना पड़ा और अनेक भवों में नीच कुल में जन्म लेना पड़ा।

(३) रूप के अभिमान के साथ ही सनत्कुमार चक्रवर्ती की काया भयंकर रोगों से ग्रस्त हो गई।

(४) बल के अभिमान के कारण श्रेणिक महाराजा को नरक में जाना पड़ा।

(५) तप के मद के कारण कुरगडु मुनि को तप में भयंकर अन्तराय पैदा हुआ।

(६) विद्या के अभिमान के कारण स्थूलभद्र अर्थसहित चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त न कर सके।

(७) लाभ के मद के कारण सुभौम चक्रवर्ती मरकर सातवीं नरक-भूमि में पैदा हुआ।

(८) ऐश्वर्यमद से दशार्णभद्र को झुकना पड़ा।

इस प्रकार अभिमान के फल का विचार कर मान-त्याग के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिये।

माया के निवारण के लिए हृदय में सरलता धारण करनी

चाहिये। माया के फल अत्यन्त कटु होते हैं। मायावी व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता है। माया के कारण ही मल्लिनाथ भगवान को स्त्री-अवतार प्राप्त हुआ था। अतः माया का त्याग कर सरलता धारण करनी चाहिये।

लोभ के निवारण के लिए सन्तोष गुण को आत्मसात् करना चाहिये। लोभी व्यक्ति सदैव अतृप्त रहता है। छह खण्ड का राज्य मिलने पर भी सुभौम चक्रवर्ती तृप्त नहीं हुआ। मगध का राज्य मिलने पर भी कोणिक को चक्रवर्ती बनने का मनोरथ हुआ था और इस कारण उसे बेमौत मरना पड़ा।

स्त्रीसंग के लोभ के कारण रावण को मौत के घाट उतरना पड़ा।

धन के लोभ में आसक्त मम्मण सेठ सातवीं नरकभूमि का अतिथि (?) बन गया।

इस प्रकार चारों कषायों की भयंकरता का विचार कर उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये। ☐

गुप्तिभिस्तिसृभिरेवमजय्यान्,
त्रीन् विजित्य तरसाधमयोगान्।
साधुसंवरपथे प्रयतेथा,
लप्स्यसे हितमनीहितमिद्धम् ॥ १०० ॥
(स्वागता)

अर्थ—अत्यन्त दुर्जेय मन, वचन और काया के योगों को तीन गुप्ति द्वारा जल्दी जीत लो और पवित्र संवर के पथ पर

प्रवृत्तिशील बन जाओ, जिससे सनातन मोक्ष-सुख प्राप्त हो जायेगा ।। १०० ।।

विवेचन

तीन गुप्ति का पालन करो

मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति को जीतना अत्यन्त ही कठिन काम है। उनको जीतने का हथियार 'गुप्ति की साधना' है।

मनोगुप्ति द्वारा मन को, वचन-गुप्ति द्वारा वचन को और काय-गुप्ति द्वारा काया को जीता जा सकता है।

मनोगुप्ति को धारण करने से मन के अशुभ विचार रुक जाते हैं और मन को शुभ विचारों में जोड़ा जा सकता है।

अशुभ ध्यान में जुड़ा मन तो आत्मा का अधःपतन ही करा सकता है।

बेचारा 'तन्दुल मत्स्य', जिसको सोचने के लिए मन तो मिला, किन्तु अशुभ ध्यान करने के कारण उसे ७वीं नरक-भूमि का वासी बनना पड़ा।

ठीक ही कहा है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।"

मनुष्य का मन उसके बंध और मोक्ष का कारण है। मनोगुप्ति से वशीभूत मन मोक्ष का और स्वच्छन्द मन कर्मबन्ध का कारण बनता है।

वचनगुप्ति का पालन करने से मिथ्या वार्तालाप, विकथा तथा निन्दा आदि का त्याग हो जाता है, जिससे आत्मा अनेक अनर्थकारी पापों से बच जाती है।

कायगुप्ति के पालन से आत्मा, काया की विविध कुचेष्टाओं से बच जाती है। अन्यथा काया से हिंसादि अनेक पापों की प्रवृत्ति हो जाती है।

मन, वचन और काया के योग अत्यन्त अजेय हैं। गुप्ति के प्रचण्ड हथियार से ही उन्हें जीता जा सकता है। □

एवं रुद्धेष्वमलहृदयैरास्रवेष्वाप्तवाक्य-
श्रद्धा-चञ्चत्सितपट-पटुः सुप्रतिष्ठानशाली।
शुद्धैर्योगैर्जवनपवनैः प्रेरितो जीवपोतः,
स्रोतस्तीर्त्वा भवजलनिधेर्याति निर्वाणपुर्याम् ।। १०१ ।।
(मन्दाक्रान्ता)

अर्थ—निर्मल हृदय के द्वारा आस्रवों को रोकने पर, आप्त पुरुषों के वाक्यों में श्रद्धा रूपी श्वेत पट्ट से सन्नद्ध, सुप्रतिष्ठित जीव रूपी नाव शुद्ध योग रूप वेगवर्द्धक पवन से प्रेरित होता है और संसार-सागर के जल को पार कर निर्वाणपुरी में पहुँच जाता है।। १०१ ।।

विवेचन

मुक्तिनगर पहुँचने की नाव

इस प्रकार आस्रवों का रोध करने के बाद आत्मा रूपी नाव का मोक्ष-नगरी में पहुँचना सरल हो जाता है।

विशाल सागर में यात्रा करने के लिए सर्वप्रथम सुयोग्य नाव चाहिये। यदि नाव कमजोर हो अथवा छिद्रयुक्त हो तो उसका आगे बढ़ना व लक्ष्य स्थल तक पहुँचना शक्य नहीं है। छिद्रयुक्त नाव में शीघ्र पानी भर जाने की सम्भावना है और पानी से भरी नाव समुद्रतल में ही पहुँचती है। अतः सर्वप्रथम नाव के छिद्रों को बन्द करना अनिवार्य है।

नाव से यात्रा करने के लिए नाविक पर पूर्ण श्रद्धा भी अनिवार्य है। नाविक पर श्रद्धा रखे बिना व्यक्ति लक्ष्य स्थल तक पहुँच नहीं सकता है।

नाव से दीर्घयात्रा के लिए अनुकूल पवन भी चाहिये। अनुकूल पवन से नाव जल्दी-जल्दी आगे बढ़ती है।

इसी प्रकार आत्मा रूपी नाव को मोक्ष-नगरी में पहुँचने के लिए सर्वप्रथम आस्रवों को रोककर आत्म-नाव को सुदृढ़ बना दे। फिर नाविक स्वरूप तीर्थंकर परमात्मा के प्रति दृढ़ श्रद्धा को धारण करना चाहिये।

योगों की शुद्धता रूप अनुकूल पवन से जीवात्मा रूप नाव तीव्र गति से मोक्ष-नगरी की ओर आगे बढ़ सकती है। □

अष्टमभावनाष्टकम्

शृणु शिवसुख-साधन-सदुपायम् ,
शृणु शिवसुख-साधन-सदुपायम् ।
ज्ञानादिक - पावन - रत्नत्रय–
परमाराधनमनपायम् ।। शृणु० १०२ ।।

अर्थ—शिवसुख की प्राप्ति के साधनभूत सम्यग् उपायों का श्रवण कर। शिवसुख-प्राप्ति के साधनभूत सम्यग् उपायों का श्रवण कर। यह (उपाय) ज्ञान आदि पवित्र रत्नत्रयी की आराधना स्वरूप है, जो अपाय रहित है ।। १०२ ।।

विवेचन

मुक्ति का उपाय : रत्नत्रयी की साधना

पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि हे प्रिय आत्मन्! मैं तुझे मोक्ष-प्राप्ति का उपाय बतलाता हूँ, इस उपाय का तू ध्यान-पूर्वक श्रवण कर। ग्रन्थकार महर्षि इस बात को पुनःपुनः दोहराते हैं और कहते हैं कि इस को तू ध्यानपूर्वक सुन।

परम आनन्द की प्राप्ति का एकमात्र उपाय रत्नत्रयी की आराधना है। वाचकवर्य उमास्वातिजी म. ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' के

प्रथम सूत्र में कहा है कि—**'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'** अर्थात् सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र ये तीनों मिलकर एक मोक्ष का मार्ग हैं। इन तीनों में से एक की उपेक्षा करने पर मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। मात्र ज्ञान और चारित्र हो, किन्तु सम्यग्दर्शन न हो तो वह ज्ञान भी मिथ्याज्ञान ही है और चारित्र भी कायकष्ट ही है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है।

सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान हो, किन्तु सम्यक् चारित्र न हो तो भी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसीलिए तो उमास्वातिजी ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' के प्रथम सूत्र में **'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि'** पद में बहुवचन और 'मोक्षमार्गः' में एकवचन का प्रयोग किया है। इसका मुख्य कारण यही है कि सम्यग् दर्शनादि तीनों संयुक्त मिलकर ही मोक्ष का मार्ग बनते हैं, किन्तु स्वतंत्र रूप में प्रत्येक मोक्षमार्ग नहीं है। अर्थात् मोक्ष की साधना के लिए इन तीनों की संयुक्त आवश्यकता है। एक की भी उपेक्षा सहनीय नहीं है।

आज तक अनन्त आत्माएँ रत्नत्रयी की आराधना कर परम पद को प्राप्त हुई हैं। वर्तमान में भी अनेक आत्माएँ रत्नत्रयी की आराधना कर मुक्ति पद को प्राप्त कर रही हैं।

यह रत्नत्रयी मुक्ति-प्राप्ति का अमोघ उपाय है। □

विषय - विकारमपाकुरु दूरं,
क्रोधं मानं सह मायम्।
लोभ-रिपुं च विजित्य सहेलं,
भज संयमगुण-मकषायम् ।। शृणु० १०३ ।।

अर्थ—क्रोध, मान और माया के साथ विषय के विकारों को दूर कर दो और बात ही बात में लोभ शत्रु को जीत कर कषायमुक्त संयम गुण को भजो ।। १०३ ।।

विवेचन

कषायों पर विजय प्राप्त करो

संयम और संवर का घनिष्ट सम्बन्ध है। जहाँ संयम है, वहाँ संवर रहेगा ही। यह संयम कषायरहित अवस्था है। संयम द्वारा कषायों का उपशमन व क्षय किया जाता है। अतः संवर की साधना के लिए संयम को भजना ही श्रेयस्कर है।

ग्रन्थकार महर्षि संयम की सेवा का उपाय भी बतला रहे हैं। वे कहते हैं कि 'अत्यन्त कटु विपाक को देने वाले इन्द्रिय के विषयों से तू दूर हट जा। उनका लेश भी संग मत कर। उनके लुभावने आकर्षण में मत फँस। इन विषयों का बाह्य आडम्बर ही आकर्षक है, किन्तु इनके चंगुल में फँसने के बाद आत्मा को अत्यन्त भयंकर फल भोगने पड़ते हैं, अतः इनसे सावधान रह।

इसके साथ क्रोध को दूर कर दे, मान को दूर भगा दे, माया की तो छाया भी भयंकर है और लोभ तो सर्व दुर्गुणों की जड़ है, उससे तो सौ कोस दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

इस पर विषय और कषायों का जय ही संयम का वास्तविक साधन है। जब तक विषयों का राग और कषायों की आग जीवित रहेगी तब तक संयम की समाधि का आस्वादन नहीं हो सकेगा। □

उपशम-रसमनुशीलय मनसा ,
रोष - दहन-जलदप्रायम् ।
कलय विरागं धृत-परभागं ,
हृदि विनयं नायं नायम् ।। शृणु० १०४ ।।

अर्थ—मन से उपशमरस का अनुशीलन करो, जो प्रायः क्रोध रूप आग के लिए बादल के समान है। हृदय में बारम्बार विनय को ला-लाकर श्रेष्ठ धैर्य रूप विरक्ति के स्वरूप को समझ लो ।। १०४ ।।

विवेचन

उपशम से क्रोध का नाश करो

क्रोध तो कषायों का राजा है। इससे सभी भयभीत होते हैं।

ज्ञानियों ने क्रोव को आग की उपमा दी है। आग के संग से आदमी जलने लगता है, इसी प्रकार क्रोध के संग से आत्मा जलने लगती है।

क्रोध की चिनगारी सर्वप्रथम मन में उठती है, फिर वाणी के द्वारा बाहर निकलती है और मुख की विकरालता के द्वारा प्रगट होती है। क्रोध जब अपना भयंकर रूप ले लेता है, तब इसे जीतना अत्यन्त कठिन हो जाता है। बड़े-बड़े महातपस्वियों को भी इसने परास्त कर दिया है और उनके तप को धूल में मिला दिया है।

ठीक ही कहा है—

क्रोधे क्रोड पुरव तणुं, संयम फल जाय।
क्रोध सहित जे तप करे, ते तो लेखे न थाय ।।

वन के दावानल को शान्त करना आसान काम नहीं है, उसे तो मूसलाधार वर्षा ही शान्त कर सकती है।

यहाँ पूज्य उपाध्यायजी म. क्रोध के दावानल को शान्त करने का उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि तू उपशम रस की वर्षा से क्रोध के दावानल को शान्त कर दे।

जहाँ उपशम है वहाँ क्रोध जीवित नहीं रह सकता है। क्रोध आग है, जल पानी है। आग उष्ण और जल शीतल होता है। आग और पानी में विजय पानी की ही होती है। इसी प्रकार क्रोध की आग को उपशम के जल से प्रशान्त किया जा सकता है।

उपशम रस से क्रोधाग्नि को शान्त कर मोक्ष-सुख को लाने वाले वैराग्य को हृदय में धारण करो।

आसक्ति में दुःख है।

विरक्ति में आनन्द है। □

आर्तं रौद्रं ध्यानं मार्जय,
दह विकल्प - रचनाऽनायम्।
यदियमरुद्धा मानसवीथी,
तत्त्वविदः पन्था नाऽयम्॥ शृणु० १०५॥

अर्थ—आर्त और रौद्रध्यान (के कचरे को) साफ कर दो, विकल्प-कल्पना के जाल को जला डालो। क्योंकि अनिरुद्ध मानसिक मार्ग तत्त्वज्ञानियों का मार्ग नहीं है॥ १०५॥

विवेचन

आर्त व रौद्रध्यान को दूर करो

ओह ! इस मन मन्दिर में आर्त और रौद्रध्यान के कचरे को इकट्ठा क्यों किया है ? क्या गन्दगी में आनन्द हो सकता है ?

हाँ, मैं भूल गया, सूअर और विष्टा के कीड़ों को गन्दगी में ही आनन्द आता है। परन्तु आप तो मानसरोवर के हंस बनना चाहते हो न ? तो फिर आपको मन की इस गन्दगी को दूर करना ही होगा।

साफ करो इस गन्दगी को और फिर देखो धर्मध्यान के आनन्द और मस्ती को।

धर्मध्यान के द्वारा मन के इस अशुभ कचरे को साफ कर दो और फिर अनेक प्रकार के कुविकल्पों के जालों को जलाकर खत्म कर डालो। कुविकल्प तो शान्त मानस को अशान्त बना देते हैं।

मन को अनेक प्रकार की भौतिक वासनाओं की चिन्ता से युक्त रखना यह तत्त्वज्ञानी व्यक्ति के लिए शोभास्पद नहीं है।

हे आत्मन् ! तू निरर्थक ही नाना प्रकार की चिन्ताएँ कर विकल्पों के जाल बना रहा है। उन संकल्प-विकल्पों में कोई आनन्द नहीं है। कभी आरोग्य की चिन्ता, कभी पुत्र-परिवार की चिन्ता, तो कभी धनादि की चिन्ता। इन चिन्ताओं के चोगों को उतार कर फेंक दे।

जरा सोच ! तेरा मन कोई कचरा-पेटी नहीं है कि इसमें जैसे-तैसे गन्दे विचारों का कचरा डाल दिया जाय।

संयम - योगैरवहितमानस-
शुद्धया चरितार्थय कायम् ।
नाना-मत-रुचि-गहने भुवने ,
निश्चिनु शुद्ध-पथं नायम् ।। शृणु० १०६ ।।

अर्थ—निर्मल मानसिक शुद्धि के साथ संयम योगों के द्वारा काया को चरितार्थ करो । नाना प्रकार के मत-मतान्तरों की रुचि से अत्यन्त गहन इस संसार में न्यायपूर्वक जो शुद्ध पथ है, उसका निश्चय करो ।। १०६ ।।

विवेचन

संयम-साधना द्वारा काया को सफल करो

मानसिक शुद्धिपूर्वक पवित्र संयमयोगों के द्वारा अपनी काया को सफल करो । यह जीवन अत्यन्त ही दुर्लभता से प्राप्त हुआ है । यह मानवदेह तो अत्यन्त ही कीमती है अतः क्षणिक भोगों के द्वारा इस देह-रत्न को समाप्त न करो ।

क्या काग को उड़ाने के लिए बहुमूल्य कीमती रत्न फेंका जाता है ?

बस, इसी प्रकार से क्षणिक भोगों के पीछे इस जीवन को बरबाद करना केवल मूर्खता ही है । आज तक अनन्त जन्मों में यही मूर्खता करते आए हैं, लेकिन इस जीवन में सावधान बन जाना है । अन्यथा विजय की बाजी अपने हाथों में नहीं रहेगी ।

काया की विलासिता को वश करने का एकमात्र उपाय है—संयम की साधना ।

चरणसित्तरी और करणसित्तरी की साधना के द्वारा काया का सदुपयोग किया जा सकता है।

चरणसित्तरी—पाँच महाव्रतों का पालन, क्षमा आदि दस यतिधर्मों का पालन, सत्रह प्रकार के संयम का आसेवन, आचार्य उपाध्याय आदि दस की वैयावच्च, ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ का पालन, रत्नत्रयी की साधना, बारह प्रकार के तप का आचरण और चार कषायों का निग्रह चरणसित्तरी कहलाती है, जिससे चारित्र शुद्ध और निर्मल बनता है।

करणसित्तरी—चार पिंड विशुद्धि, पाँच समितिपालन, बारह भावना, बारह प्रतिमा, पाँच इन्द्रियनिरोध, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति और चार अभिग्रह ये करणसित्तरी कहलाते हैं।

इस संसार में चारों ओर नाना प्रकार के मत-मतान्तरों का प्रचलन है। स्वमति-कल्पना से अनेक मत उत्पन्न हो गए हैं और हो रहे हैं अतः उन मतों के चंगुल में फँस न जाय, इसकी अत्यन्त सावधानी रखने की आवश्यकता है। इस दुनिया में कोई एकान्त व्यवहार नय को पकड़े हुए है तो कोई एकान्त निश्चय नय को।

व्यवहार निश्चय उभय स्वरूप प्रभु-पंथ के साधक विरले ही मिलते हैं, अतः इन बाह्य आडम्बरवादी झूठे पंथों से बचने के लिए पूर्ण सावधान रहना होगा। अत्यन्त सावधानीपूर्वक सद्गुरु की पहचान कर उनके चरणों में जीवन समर्पित कर देना ही हितकारी है। □

ब्रह्मव्रत-मङ्गीकुरु विमलं ,

बिभ्राणं गुण-समवायम् ।

उदितं गुरुवदनादुपदेशं ,

संगृहाण शुचिमिव रायम् ।। शृणु० १०७ ।।

अर्थ—अनेक गुणों के समुदाय रूप निर्मल ब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार करो। गुरु के मुख से निकले अत्यन्त पवित्र रत्न के निधान रूप उपदेशों का संग्रह करो ।। १०७ ।।

विवेचन

ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करो

हे प्रिय आत्मन् ! अनेक गुणों की आधारशिला स्वरूप ब्रह्मचर्य व्रत को तू अंगीकार कर। इस व्रत की महिमा अपरम्पार है। कहा भी है—

ए व्रत जग मां दोवो मेरे प्यारे ।

ए व्रत जग मां दीवो ।।

विशुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन से आत्मा की सुषुप्त शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं।

ब्रह्मचर्य अर्थात् स्त्री-संग तथा विषयवासना आदि का सर्वथा त्याग तथा आत्मस्वभाव में रमण करना।

ब्रह्मचर्य से आत्मा पवित्र बनती है। दिमाग में अशुभ विचारों का आवागमन रुकता है। शरीर का आरोग्य बढ़ता है। चित्त प्रसन्न और स्थिर बनता है, इत्यादि अनेक लाभों की प्राप्ति ब्रह्मचर्यपालन से होती है।

हे आत्मन् ! तू ऐसे पवित्र और शुद्ध ब्रह्मचर्य को अपने जीवन में आत्मसात् कर। इसके साथ ही सद्गुरु के मुख से निकलती हुई अमृत-वाणी का निरन्तर पान कर।

जिनवाणी का प्रतिदिन श्रवण करना चाहिये, इससे जिनेश्वर के मार्ग का सत्य बोध होता है और जीवन में आत्म-कल्याण के पंथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है।

सद्गुरु की वाणी तो अमृत समान है। इस वाणी ने तो अनेक आत्माओं को जीवनदान दिया है। □

संयम - वाङ्मय - कुसुमरसैरिति-
सुरभय निजमध्यवसायम्।
चेतनमुपलक्षय कृत - लक्षण-
ज्ञान-चरण-गुण - पर्यायम्॥ शृणु० १०८॥

अर्थ—संयम और शास्त्र रूप पुष्पों से अपने अध्यवसायों को सुगंधित करो और ज्ञान-चारित्र रूप गुण और पर्याय वाले चेतन के स्वरूप को बराबर समझ लो॥ १०८॥

विवेचन

संयम से अपने अध्यवसाय शुद्ध करो

आत्मा अपने अध्यवसाय के अनुसार ही कर्म का बंध अथवा निर्जरा करती है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान में ही लीन थे। सूर्य की आतापना भी ले रहे थे, किन्तु अशुभ अध्यवसाय की धारा के कारण ७वीं नरकभूमि में गमन योग्य कर्मदलिकों को

उन्होंने इकट्ठा कर लिया था, किन्तु वे पुनः सावधान हो गए और शुभ ध्यान के बल से उन्होंने उन कर्मदलिकों का पुनः क्षय कर दिया।

चित्त के अध्यवसायों को सुधारने के लिए संयम का पालन और शास्त्रों का स्वाध्याय-वाचन-मनन अत्यन्त अनिवार्य है। शास्त्रों के स्वाध्याय से सत्य का बोध होता है, जिससे चित्त के अध्यवसाय शुभ व शुद्ध बनते हैं।

संयम व स्वाध्याय रूप पुष्पों की सुगन्ध से अपने अध्यवसायों को सुगन्धित-पवित्र बनाया जा सकता है।

अध्यवसायों की शुद्धि के बाद अपनी आत्मा के स्वरूप को समझने का प्रयास करना चाहिये।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह आत्मा का स्वभाव है। जो सदा साथ में रहते हैं, वे गुण कहलाते हैं। ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा के गुण हैं। जो क्रमभावी होते हैं, वे पर्याय कहलाते हैं। बाल्यावस्था, यौवनावस्था, वृद्धावस्था, मनुष्य, पशु इत्यादि आत्मा की पर्यायें हैं। □

वदनमलं कुरु पावनरसनं,
जिनचरितं गायं गायम्।
सविनय - शान्तसुधारसमेनं,
चिरं नन्द पायं पायम्॥ शृणु० १०९॥

अर्थ—जिनेश्वर के चरित्रों का पुनःपुनः गान करके रसना

को पावन करो और वदन को अलंकृत करो। इस शान्त सुधारस का बारम्बार पान कर दीर्घकाल तक आनन्द करो ।। १०६ ।।

विवेचन

तीर्थंकर के पवित्र चरित्रों से रसना को पावन करो

अन्त में, पूज्य उपाध्यायजी म. शुभकामना व्यक्त करते हुए कहते हैं कि हे प्रिय आत्मन् ! जिनेश्वरदेव के चरित्रों का बारंबार गान व पान करके अपनी रसना को पवित्र कर।

जिनेश्वरदेव के पवित्र चरित्रों का पुनःपुनः पठन-पाठन करने से अपनी सुषुप्त चेतना जागृत होती है। जीवन जीने की नई दिशा मिलती है। तीर्थंकरों के चरित्र-श्रवण से उन आत्माओं की महानता, परोपकारिता, पवित्रता तथा सर्वोत्कृष्टता का बोध होता है। इस संसार में तीर्थंकर आत्माओं की अपनी विशिष्टता होती है। उनका आत्म-द्रव्य विशिष्ट कोटि का होता है। उनके सम्यग्दर्शन को वरबोधि कहते हैं।

तीर्थंकरपद-प्राप्ति के पूर्व के तीसरे भव में उनकी आत्मा में **'सवि जीव करूं शासनरसी'** की सर्वोत्कृष्ट भावना प्रगट होती है। सभी जीवात्माओं के उद्धार की सर्वोत्कृष्ट भावना के फलस्वरूप उनकी आत्मा तीर्थंकर नामकर्म निकाचित करती है; जिस कर्म के उदय से वे विश्व में सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हैं। 'तीर्थंकर नामकर्म' यह सर्वश्रेष्ठ पुण्य-प्रकृति है। तीर्थंकर परमात्मा का च्यवन और जन्म भी कल्याणक कहलाता है। माँ की कुक्षि में उनके आगमन के

साथ ही चौदह राजलोक के समस्त जीवों को क्षणभर के लिए परम शान्ति का अनुभव होता है। नरक के घनघोर अन्धकार में भी प्रकाश की किरण फैल जाती है। तीर्थंकरों के जन्म-कल्याणक के समय नरक व निगोद के जीवों को भी सुख का अनुभव होता है। उनके जन्म के साथ ही सौधर्म का आसन कम्पित होने लगता है और वे आकर प्रभु और प्रभु की माँ को नमस्कार करते हैं और पाँच रूप कर प्रभु को मेरुपर्वत पर ले जाते हैं, जहाँ करोड़ों देवता आकर प्रभु का भव्य जन्माभिषेक महोत्सव करते हैं। प्रभु को गर्भ में भी तीन ज्ञान होते हैं।

जन्म के बाद भी उनका सांसारिक जीवन विरक्ति से भरपूर होता है। ज्योंही उनके भोगावली कर्म क्षीण हो जाते हैं, त्योंही वे संसार के बन्धनों का त्याग कर संयम-मार्ग को स्वीकार कर लेते हैं। फिर कठोरतम साधना कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। स्वयं कृतकृत्य होने पर भी एकमात्र भव्य जीवों के कल्याण के लिए प्रतिदिन दो प्रहर तक धर्मदेशना देते हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन परोपकारमय होता है। उनके गुणों का वर्णन करने में सर्वज्ञ केवली भी असमर्थ हैं तो फिर बेचारी इस कलम में तो ताकत ही क्या है ?

ऐसे महान् पवित्र तीर्थंकर भगवन्तों के चरित्र का गान करने से जीवन सफल बन जाता है।

पूज्य उपाध्यायजी म. यही कहते हैं कि हे आत्मन् ! उनके चरित्रों का पुनःपुनः पठन कर अपनी रसना को पवित्र करो और 'शान्त सुधारस' का पुनःपुनः पान कर दीर्घकाल तक आनन्द प्राप्त करो। □

9

निर्जरा भावना

यन्निर्जरा द्वादशधा निरुक्ता ,
तद् द्वादशानां तपसां विभेदात् ।
हेतुप्रभेदादिह कार्यभेदः ,
स्वातन्त्र्यतस्त्वेकविधैव सा स्यात् ।। ११० ।।
(इन्द्रवज्रा)

अर्थ—बारह प्रकार के तप के भेद के कारण निर्जरा के भी बारह प्रकार कहे गये हैं। हेतु के भेद से यहाँ कार्य में भेद है, परन्तु स्वतन्त्र दृष्टि से विचार करें तो निर्जरा एक ही प्रकार की होती है ।। ११० ।।

विवेचन

निर्जरा के १२ भेद

जैनदर्शन में नौ तत्त्वों के अन्तर्गत 'निर्जरा' को एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में माना गया है। 'निर्जरा' अर्थात् आत्मा पर लगी हुई कर्म रूपी धूल का झड़ना।

अनादिकाल से अपनी आत्मा कर्म के सम्बन्ध में है।

अपनी आत्मा निरन्तर सात या आठ कर्मों का बंध कर रही है। इसके साथ प्रतिसमय आठों कर्म उदय में भी हैं।

प्रतिसमय कर्मोदय से क्षीण होने वाले कर्म अल्प संख्या में हैं और बंध अधिक संख्या में हो रहा है। इस कारण अपनी आत्मा पर कर्म का मैल अत्यधिक चढ़ा हुआ है।

कोई तालाब पानी से भरा हुआ हो, उसमें नवीन पानी के आगमन के द्वार बन्द कर दिए हों तो उस तालाब का पानी वैशाख और ज्येष्ठ मास की भयंकर गर्मी से भाप बनकर उड़ने लगता है और धीरे-धीरे एक दिन वह तालाब सूख जाता है।

बस, इसी प्रकार अपनी आत्मा में भी आस्रव-मार्गों के द्वारा कर्मों का आगमन होता है। संवर द्वारा आस्रवों के उन द्वारों को बन्द कर दिया जाता है और निर्जरा द्वारा सत्तागत कर्मदलिकों को जलाकर खत्म कर दिया जाता है।

नदी में आप नाव से यात्रा कर रहे हैं। अचानक नाव में कुछ छिद्र पड़ जाते हैं और नदी का पानी नाव में आने लगता है, आप सर्वप्रथम क्या करोगे ?

जो जल के आगमन के छिद्र हैं, उन्हीं को बन्द करोगे न ?

उन छिद्रों को बन्द करने के साथ अथवा बाद तुरन्त नाव में आए जल को बाहर फेंकने का काम करोगे।

अब इस उदाहरण को आध्यात्मिक दृष्टि से समझ लें।

इस संसार-सागर में अपनी आत्मा नाव समान है। आस्रव-द्वार नाव के छिद्र हैं, जिनसे कर्म रूपी पानी आत्मा में

प्रवेश करता है, जिससे आत्मा रूपी नाव संकट में गिर जाती है। उस समय संवर के द्वारा उन कर्म के आगमन के द्वारों को बन्द किया जाता है और निर्जरा के द्वारा आत्मनाव में आए कर्म रूपी पानी को बाहर फेंका जाता है।

आत्मा पर से कर्म का क्षय दो प्रकार से होता है—

(१) उदय से और (२) निर्जरा से।

कर्म के उदय से भी आंशिक कर्मों का क्षय होता है, परन्तु इसके द्वारा आत्मा कर्म से मुक्त नहीं बन सकती है क्योंकि उदय के साथ ही कर्म का बंध भी तो प्रतिसमय चालू है। अतः सम्पूर्ण कर्मों का क्षय तो एकमात्र निर्जरा से ही सम्भव है।

निर्जरा के दो भेद हैं—

(१) **अकामनिर्जरा**—अनिच्छा से कर्म के उदय से जन्य दुःख, पीड़ा आदि को सहन करना। इसमें निर्जरा अति अल्प होती है।

(२) **सकामनिर्जरा**—इच्छापूर्वक कर्म के उदय से आए हुए दुःख को सहन करने से सकामनिर्जरा होती है तथा इच्छा-पूर्वक नये-नये कष्टों को खड़ा कर, उन्हें सहन करने से भी सकाम-निर्जरा होती है। इसमें थोड़ा कष्ट हो तो भी निर्जरा अधिक होती है।

इच्छापूर्वक कष्ट सहन करने में अत्यधिक निर्जरा होती है।

नरक का जीव अनिच्छा से सौ वर्षों तक भयंकर कष्टों को सहन कर जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतने कर्मों की

निर्जरा इच्छापूर्वक किए गए एक 'नवकारसी' के तप से हो जाती है।

दृढ़प्रहारी, चिलातीपुत्र, अर्जुनमाली, रोहिणेय चोर आदि महापापियों का भी तप और संयम से अल्पकालीन कष्ट सहन करने से उद्धार हो गया और हमारा उद्धार नहीं हो पाया; कारण क्या है ?

क्या हमने मरणान्त कष्टों को सहन नहीं किया है ?

क्या हमारे शरीर की चमड़ी नहीं उतारी गई है ?

क्या हमने जीते जी आग की पीड़ा को सहन नहीं किया है ?

कष्ट, उपसर्ग और पीड़ाएँ तो बहुत सहन कीं, फिर भी हम मुक्त न हो पाए। इसका एकमात्र कारण है—'वह सब दुःख हमने अनिच्छा से सहन किया है, स्वीकार किया है, परन्तु उस दुःख से घृणा ही की है—उस दुःख में रोए हैं।' इसीलिए हम मुक्त न बन पाये।

जैन दर्शन में निर्जरा तत्त्व के बारह भेद बतलाए गये हैं, क्योंकि तप के बारह प्रकार हैं। तप और निर्जरा का अभेद सम्बन्ध है। जहाँ तप है वहाँ निर्जरा होगी ही। तप के द्वारा उदयावलिका में अप्रविष्ट कर्मों को उदय में लाकर क्षय किया जाता है।

'आत्मा पर से कर्म का झड़ जाना' यही वस्तुतः निर्जरा का स्वरूप है और इसका प्रकार भी एक ही है, फिर भी हेतु के भेद से जैसे कार्य में भेद किया जाता है, उसी प्रकार निर्जरा के हेतुओं के भेद से निर्जरा के भी बारह भेद किए गए हैं।

उदाहरण स्वरूप पानी एक होते हुए भी 'यह गिलास का पानी है, यह लोटे का पानी है, यह मटके का पानी है, यह बर्तन का पानी है', इत्यादि कहा जाता है। अथवा सब लकड़ियाँ समान होते हुए भी 'यह नीम की लकड़ी है, यह बबूल की लकड़ी है, यह बड़ की लकड़ी है', इत्यादि कहा जाता है, इसी प्रकार हेतुओं के भेद से निर्जरा के भी बारह भेद किए गए हैं। □

काष्ठोपलादिरूपाणां, निदानानां विभेदतः।
वह्निर्यथैकरूपोऽपि, पृथग्रूपो विवक्ष्यते ।। १११ ।।
(अनुष्टुप्)

निर्जरापि द्वादशधा, तपोभेदैस्तथोदिता।
कर्मनिर्जरणात्मा तु, सैकरूपैव वस्तुतः ।। ११२ ।।
(अनुष्टुप्)

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि एक ही प्रकार की होती हुई भी काष्ठ तथा पत्थर आदि हेतुओं के भेद से अलग-अलग भी कही जाती है ।। १११ ।।

अर्थ—इसी प्रकार तप के बारह प्रकार होने से निर्जरा भी बारह प्रकार की कही जाती है, लेकिन कर्म-क्षय की दृष्टि से तो निर्जरा एक ही प्रकार की है ।। ११२ ।।

विवेचन

निर्जरा का भेदोपचार

आग का स्वरूप एक ही होता है और उसका 'जलाने' का

कार्य भी एक ही होता है, फिर भी हेतुओं के भेद से उस अग्नि में भी भेदोपचार किया जाता है।

जैसे—काष्ठ को जलाकर पैदा की गई अग्नि **काष्ठाग्नि** कहलाती है।

घास को जलाकर पैदा की गई अग्नि **तृणाग्नि** कहलाती है।

इसी प्रकार आत्मा पर से कर्म के झड़ने के स्वरूप से तो निर्जरा का एक ही प्रकार है। फिर भी निर्जरा के जनक हेतुओं के भेद से निर्जरा के बारह भेद बताए गए हैं। □

निकाचितानामपि कर्मणां यद्,
गरीयसां भूधरदुर्धराणाम्।
विभेदने वज्रमिवातितीव्रं,
नमोऽस्तु तस्मै तपसेऽद्भुताय ।। ११३ ।।
(उपेन्द्रवज्रा)

अर्थ—विशाल और दुर्धर पर्वतों को तोड़ने में वज्र अत्यन्त तेजी से काम करता है, इसी प्रकार अत्यन्त निकाचित कर्मों को तोड़ने में भी तप अत्यन्त तीव्रता से काम करता है, ऐसे अद्भुत तप को नमस्कार हो ।। ११३ ।।

विवेचन

तप से कर्मनाश

मन, वचन और काया की वृत्ति-प्रवृत्ति के अनुसार आत्मा कर्म का बंध करती है। कर्म-बंध के साथ ही चार चीजों का निर्णय हो जाता है—

1. **प्रकृति**—कर्म की मुख्य आठ प्रकृतियाँ हैं, जो आत्मा के ज्ञानादि गुणों को रोकती हैं—

(१) **ज्ञानावरणीय कर्म**—आत्मा के ज्ञान गुण पर आवरण लाता है।

(२) **दर्शनावरणीय कर्म**—आत्मा के दर्शन गुण को रोकता है।

(३) **वेदनीय कर्म**—आत्मा को शाता-अशाता देता है।

(४) **मोहनीय कर्म**—आत्मा के सम्यक्त्व व चारित्र गुण को रोकता है।

(५) **आयुष्य कर्म**—आत्मा की अजरामर अवस्था को रोकता है और एक भव में रहने (जीने) का समय प्रदान करता है।

(६) **नाम कर्म**—आत्मा के अरूपिता गुण पर आवरण लाता है और विविध देह, आकार आदि प्रदान करता है।

(७) **गोत्र कर्म**—आत्मा के अगुरुलघुता गुण पर आवरण लाता है और आत्मा को ऊँच-नीच जाति में स्थान देता है।

(८) **अन्तराय कर्म**—आत्मा के अनन्त वीर्य गुण को रोकता है और आत्मा की दानादि लब्धियों में अन्तराय पैदा करता है।

कर्मबंध के समय उपर्युक्त मूल प्रकृतियों में से बँधे हुए कर्म का स्वरूप क्या होगा, उसका निर्णय होता है, इसे प्रकृतिबंध भी कहते हैं।

2. **स्थिति**—कर्मबंध के साथ ही उसकी स्थिति भी तय हो जाती है, अर्थात् यह कर्म अमुक समय तक आत्मा के साथ लगा रहेगा। कर्म की प्रकृति के अनुसार उसकी स्थिति भी भिन्न-भिन्न है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटाकोटि सागरोपम है। नाम और गोत्र की २० कोटाकोटि सागरोपम, मोहनीय की ७० कोटाकोटि सागरोपम और आयुष्य की ३३ सागरोपम है।

वेदनीय की जघन्य स्थिति १२ मुहूर्त, नाम और गोत्र की ८ मुहूर्त और शेष कर्मों की अन्तर्मुहूर्त है।

इस प्रकार कर्मबंध के साथ उसकी स्थिति का निर्णय भी तत्काल हो जाता है।

3. **रस**—कर्म में शुभाशुभ फल देने की शक्ति का निर्णय 'रस' से होता है। कर्म के परमाणुओं में यह रस आत्मा के कषायों से उत्पन्न होता है। कषायों की तीव्रता-मन्दता के अनुसार कर्म में फल देने की शक्ति पैदा होती है।

4. **प्रदेश**—कर्मबंध के साथ ही उसके दलिकों की संख्या का निर्धारण भी हो जाता है।

इस प्रकार कर्मबंध के साथ उपर्युक्त चारों का निर्धारण हो जाता है।

इन कर्मों के बंध के पुनः चार प्रकार हैं—

1. **स्पृष्टबंध**—जिस कर्म का बंध, मात्र योग से होता है,

उसे स्पृष्टबंध कहते हैं। बहुत ही अल्प प्रयास से इन कर्मों का क्षय हो जाता है। सुइयों के ढेर में पड़ी हुई सुइयों के परस्पर स्पर्श समान यह बंध है।

2. **बद्ध कर्मबंध**—धागे में पिरोई गई सुइयों की भाँति आत्मप्रदेशों के साथ कर्म पुद्गलों का जो बंध होता है, उसे बद्ध कर्मबंध कहते हैं। इस प्रकार के कर्मों का क्षय 'इरियावहिय-प्रतिक्रमण' आदि से हो जाता है।

3. **निधत्त कर्मबंध**—जंग लग जाने से परस्पर जुड़ी हुई सुइयों की भाँति जिन कर्मों का आत्मा के साथ गाढ़ बंध होता है, उसे निधत्त कर्मबंध कहते हैं। इस प्रकार के कर्मों का क्षय तप द्वारा होता है।

4. **निकाचित कर्मबंध** —भट्टी में तीव्र अग्नि से तपाकर···· पिघलाकर तथा हथौड़ों की मार से एकमेक की गई सुइयों के ढेर की भाँति जिन कर्मों का बंध होता है, उन्हें निकाचित कर्मबंध कहते हैं।

निकाचित कर्मों का फल आत्मा को अवश्य भुगतना ही पड़ता है।

उन कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता है। जिस प्रकार रेशमी डोरी में गाँठ लग जाने के बाद उसे खोलना अत्यन्त दुष्कर होता है, उसी प्रकार निकाचित कर्म के उदय से आए हुए दुःखों को भोगना ही पड़ता है।

परन्तु उन निकाचित कर्मों को भी नष्ट करने की ताकत है 'सम्यग् तप' में।

जिनाज्ञा के पालनपूर्वक जो सम्यग् तप किया जाता है, उसमें प्रचण्ड ताकत पैदा हो जाती है। जिस प्रकार इन्द्र के वज्र में पर्वत को भेद डालने की, उसे चूर-चूर कर देने की ताकत रही हुई है, उसी प्रकार तप में भी सर्व शक्तिमान निकाचित कर्मों को भी जलाकर भस्मीभूत कर देने की ताकत रही हुई है।

इस अद्‌भुत तप को हमारा कोटि-कोटि वन्दन हो। □

किमुच्यते सत्तपसः प्रभावः,
कठोरकर्मार्जितकिल्बिषोऽपि ।
दृढप्रहारीव निहत्य पापं,
यतोऽपवर्गं लभतेऽचिरेण ।। ११४ ।।
(उपजाति)

अर्थ—सम्यग् तप के प्रभाव की तो क्या बात करें? इसके प्रभाव से तो कठोर और भयंकर पाप को करने वाले दृढ़प्रहारी जैसे भी शीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर जाते हैं ।। ११४ ।।

विवेचन

तप का प्रभाव

अरे! आप इस तप के अद्‌भुत माहात्म्य के बारे में मुझसे प्रश्न कर रहे हो?

ओह! तप की शक्ति के बारे में आपके हृदय में सन्देह है?

तो मेरी एक ही सलाह है, जाकर दृढ़प्रहारी की आत्मा को पूछ लो, अथवा उनके अद्‌भुत चरित्र को पढ़ लो।

अच्छा ! तो दृढ़प्रहारी की रोमांचक कथा अपने शब्दों में मैं ही सुना दूँ—

• जाति से तो वह ब्राह्मण था, किन्तु कर्म उसके ब्राह्मण के नहीं थे। वह अत्यन्त निष्ठुर-क्रूर और दुष्ट था। दुष्टों की संगति से उसका जीवन बरबादी के तट पर आ पहुँचा था। उसके प्रहार में प्रचण्ड शक्ति थी, एक ही प्रहार में वह मजबूत प्राणी को भी मौत के घाट उतार देता था। इसीलिए उसका नाम प्रसिद्ध हो गया 'दृढ़प्रहारी'।

एक दिन कुशस्थल नगरी में महोत्सव का प्रसंग था। घर-घर में कुछ-न-कुछ मिष्ठान्न बनाया गया था।

उस नगरी में एक गरीब ब्राह्मण परिवार भी था। गरीब के घर मिष्ठान्न कहाँ से ? लेकिन बालक ने आज मिष्ठान्न की जिद कर ली थी, अतः ब्राह्मणी पास-पड़ोस से दूध, चावल तथा शक्कर आदि मांगकर ले आई और उसने खीर बना दी। ब्राह्मण स्नान करने के लिए नदी के तट पर चला गया था।

दृढ़प्रहारी उस ब्राह्मण के घर में घुसा और क्षीरान्न का पात्र लेकर भागने लगा। बच्चों ने जाकर ब्राह्मण को शिकायत की तो ब्राह्मण कुल्हाड़ी लेकर आया। दृढ़प्रहारी भाग रहा था, बीच में एक गाय आ गई, तो उसने उसके पेट में तलवार भोंककर उसकी हत्या कर दी और समीप में आए ब्राह्मण को भी खत्म कर दिया। पति की हत्या देख गर्भवती ब्राह्मणी रोने-चिल्लाने लगी और उसे गालियाँ देने लगी। क्रोध से अन्धे बने दृढ़प्रहारी ने उस गर्भवती ब्राह्मणी को भी खत्म कर दिया।

अपने प्राण-प्रिय माता-पिता के मृत कलेवर को देखकर सभी बालक भयंकर चीत्कार करने लगे।

बालकों का करुण विलाप सुनकर पत्थर दिल दृढ़प्रहारी का हृदय भी द्रवित हो उठा....उसका हृदय पिघल गया और उसे अपनी भूल का घोर पश्चाताप होने लगा।

उसने सोचा—'ब्राह्मण, स्त्री, गाय और गर्भ की हत्या करने वाले मुझे जीने का अधिकार नहीं है।" अतः वह आत्महत्या के लिए नगर से निकल पड़ा।

नगर के बाहर आते ही उसने एक महात्मा को कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े देखा। महात्मा की शान्त-प्रशान्त व गम्भीर मुद्रा ने दृढ़प्रहारी को आकर्षित कर लिया और उसने महात्मा के चरणों में जाकर नमस्कार किया।

महात्मा ने उसे 'धर्मलाभ' का महान् आशीर्वाद दिया।

दृढ़प्रहारी ने कहा—'प्रभु! मैंने जीवन में भयंकर पाप किए हैं। मैं जीने का....अधिकारी नहीं हूँ....अतः आत्महत्या के लिए जा रहा हूँ....मौत ही मेरे पापों की शुद्धि....।'

महात्मा ने कहा—'महानुभाव! धैर्य रखो। धीरज का फल मीठा होता है, आत्महत्या करने से....देह को समाप्त कर देने से पापों का नाश नहीं होता है। पापमुक्त बनने का एक मात्र उपाय है—सर्वविरति धर्म का स्वीकार।'

दृढ़प्रहारी ने कहा—'प्रभु! मुझे पाप से मुक्त बनना चाहिये....मुझे यही उपाय चाहिये और यह आप ही बता सकोगे।'

बस, महात्मा ने दृढ़प्रहारी को साधुधर्म का उपदेश दिया। दृढ़प्रहारी ने उसको स्वीकार किया।

पापात्मा से पुण्यात्मा बने दृढ़प्रहारी ने तत्काल यह प्रतिज्ञा की कि 'जब तक मुझे अपना पाप याद आएगा, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा।'

बस, दृढ़प्रहारी मुनि ने ऐसा ही किया। पाप याद तो था ही, अतः प्रतिदिन नगर के बाहर अलग-अलग दिशाओं में कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े हो जाते।

नगरजनों ने दृढ़प्रहारी को मुनिवेष में देखा....लोग धिक्कारने लगे—अहो! देखो यह ढोंगी! ....इसने मेरे पुत्र को खत्म किया है। अरे! यह तो महादुष्ट है, इसने मेरे पिता को मार डाला था। और लोग पत्थर-लकड़ी आदि से मुनि पर प्रहार करने लगे।

पत्थर व लकड़ी की मार लगने पर भी दृढ़प्रहारी मुनि यही सोचते कि 'हे आत्मन्! तूने ऐसा ही पाप किया है, इसलिए ऐसा ही फल मिल रहा है। जैसा बीज बोया है, वैसा ही तो फल मिलेगा।'

अग्नि के ताप से स्वर्ण की शुद्धि होती है। इसी प्रकार लकड़ी आदि के प्रहार से ये मेरी आत्मा को शुद्ध ही बना रहे हैं। ये तो मेरे उपकारी हैं। अपने पुण्य का व्यय कर मेरे पाप-मल को दूर कर रहे हैं, अतः ये मेरे परम बन्धु हैं। इस प्रकार अत्यन्त समतापूर्वक परीषहों और उपसर्गों को सहन करने से दृढ़प्रहारी मुनि को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए।

इस तप के प्रभाव से दृढ़प्रहारी जैसे हत्यारे भी पाप से सर्वथा मुक्त बनकर अजर-अमर पद को प्राप्त हो गए। ऐसे तप की महिमा का वर्णन करने में कौन समर्थ है अर्थात् कोई नहीं। □

यथा सुवर्णस्य शुचिस्वरूपं ,
दीप्तः कृशानुः प्रकटीकरोति ।
तथात्मनः कर्मरजो निहत्य ,
ज्योतिस्तपस्तद् विशदीकरोति ।। ११५ ।।
(उपजाति)

अर्थ—जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि स्वर्ण के शुद्ध स्वरूप को प्रगट करती है, उसी प्रकार तप भी आत्मा के कर्म-मैल का नाश कर, उसके ज्योतिर्मय स्वभाव को फैलाता है ।। ११५ ।।

विवेचन

तप से आत्म-विशुद्धि

खान में रहा हुआ स्वर्ण कितना मलिन होता है ? मिट्टी से वह भरा हुआ होता है; किन्तु उसी स्वर्ण को जब आग में तपाया जाता है तब वह शुद्ध होने लगता है और धीरे-धीरे उसकी चमक-दमक बढ़ने लगती है, दुनिया उसका वास्तविक मूल्यांकन करती है, वह देवताओं के मस्तक का मुकुट बनकर सर्व सम्मान प्राप्त करता है ।

स्वर्ण सभी का आदरणीय बना, क्यों ? क्योंकि उसने अग्नि के ताप को सहन किया ।

इसी प्रकार आत्मा भी जब तप के आश्रय से तप कर शुद्ध बनती है, तब उसकी चमक बढ़ जाती है। तप के ताप से आत्मा पर लगा कर्ममल जलकर समाप्त हो जाता है। मल के जलने के साथ ही आत्मा का तेज प्रगट हो जाता है।

वह त्रिभुवन में पूज्य बन जाती है। देवता भी आकर उस आत्मा को प्रणाम करते हैं। □

बाह्येनाभ्यन्तरेण प्रथितबहुभिदा जीयते येन शत्रु-
श्रेणी बाह्यान्तरङ्गा भरतनृपतिवद् भावलब्धद्रढिम्ना।
यस्मात् प्रादुर्भवेयुः प्रकटितविभवा लब्धयः सिद्धयश्च,
वन्दे स्वर्गापवर्गार्पण पटु सततं तत्तपो विश्ववन्द्यम् ।११६।
(स्रग्धरा)

अर्थ—बाह्य और अभ्यन्तर दृष्टि से यह तप बहुत भेद वाला है, जिससे भरत महाराजा की तरह भावना से प्राप्त दृढ़ता से बाह्य और अभ्यन्तर शत्रुओं की श्रेणी जीत ली जाती है, जिसमें से प्रगट वैभवशाली लब्धियाँ और सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, स्वर्ग और अपवर्ग को देने में चतुर ऐसे विश्ववन्द्य तप को मैं वन्दन करता हूँ।। ११६ ।।

विवेचन

तप की महिमा अपरम्पार

तप का माहात्म्य वर्णनातीत है। तप के मुख्य दो भेद हैं—बाह्य तप और अभ्यन्तर तप। पुनः प्रत्येक के छह-छह भेद हैं, जिनका विस्तृत वर्णन आगे होने वाला है।

अत्यन्त दृढ़ता और धैर्यपूर्वक बाह्य और अभ्यन्तर तप का आचरण किया जाय तो सभी बाह्य और अन्तरंग विघ्न समाप्त हो जाते हैं।

चक्रवर्ती भी छह खण्ड को जीतने के लिए अट्ठम तप पूर्वक देवता की आराधना करते हैं जिसके प्रभाव से वे आसानी से छह खण्ड पृथ्वी को जोतकर चक्रवर्ती पद प्राप्त कर लेते हैं।

ठीक ही कहा है—

ते शुं छे संसार मां रे,
तप थी जे नवि होय।
जे जे मन मां कामीए रे,
सफल फले सवि तेह॥

तप के प्रभाव से सभी बाह्य और अभ्यन्तर विघ्न शान्त हो जाते हैं।

भरत महाराजा ने गत भवों में तप व संयम की सुन्दर साधना की थी। अन्तिम भव में भरत महाराजा चक्रवर्ती बने और चक्रवर्ती के भव में छह खण्ड के अधिपति होते हुए भी वे सर्वथा अलिप्त थे। इसी कारण एक बार स्नानघर में अन्यत्व भावना के भावन में इतने आगे बढ़ गए कि उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

तप के प्रभाव से अनेक लब्धियों और सिद्धियों की भी प्राप्ति होती है।

सनत्कुमार चक्रवर्ती के शरीर में भयंकर रोग हो गए थे,

उन्होंने संसार का त्याग कर चारित्र अंगीकार किया, तत्पश्चात् विविध प्रकार के तप करने लगे। तप के प्रभाव से उन्हें अनेक लब्धियों की प्राप्ति हुई। उनके मल-मूत्र भी औषधि का काम करते थे।

जब देवताओं ने वैद्य के वेष में आकर उनकी परीक्षा लेते हुए उनसे पूछा—'भगवन्! हम आपके रोग का उपचार करना चाहते हैं।'

महामुनि ने कहा—'कौनसे रोग का उपचार करोगे? द्रव्य रोग या भाव रोग का? मुझे तो भाव रोगों से (आत्मा के रोगों से) मुक्त बनना है। क्या यह कार्य तुम कर सकोगे? तो मैं अपना.....।'

वैद्य ने कहा—"प्रभो! हम तो शरीर के रोग का इलाज करना जानते हैं। आत्मा के रोग....को मिटाने में हम....।'

महामुनि ने कहा—'शरीर के रोग तो मैं भी मिटा सकता हूँ और तत्काल उन्होंने अपने मुँह से थूक निकाल कर हाथ पर लगाया। तत्काल उनके देह की चमड़ी स्वर्णवत् हो गई।'

वैद्य के रूप में आए देव आश्चर्यचकित हो गए, 'अहो! इतनी महान् लब्धियों के स्वामी। फिर भी इतने निर्लेप और अनासक्त हैं....।' देवता उनके चरणों में झुक गए।

यह तप तो विश्ववन्द्य है। इस तप में स्वर्ग के महान् सुख और शाश्वत अजरामर पद देने की शक्ति रही हुई है।

□

नवमभावनाष्टकम्

विभावय विनय तपो महिमानं,
बहुभव - सञ्चितदुष्कृतममुना ।
लभते लघु लघिमानम्,
विभावय विनय तपो महिमानम् ।।विभा० ११७।।

अर्थ—हे विनय ! तप की महिमा का तू चिन्तन कर। इस तप से बहुत भवों में संचित किए गए पाप शीघ्र ही अत्यन्त कम हो जाते हैं। हे विनय ! तप की महिमा का तू विचार कर ।। ११७ ।।

विवेचन

तप से कर्मनाश

पूज्य उपाध्याय श्री विनयविजयजी म. आत्मसम्बोधन करते हुए फरमाते हैं कि हे विनय ! तू तप की महिमा का जरा विचार कर। इस तप के प्रभाव से सैकड़ों भवों में इकट्ठे हुए कर्म भी तत्काल कमजोर हो जाते हैं।

भगवान महावीर परमात्मा ने मात्र १२½ वर्ष की तपःसाधना द्वारा गत भवों में अर्जित समस्त पापों का क्षय कर दिया था।

तपस्वी धन्ना अणगार ने मात्र नौ मास में चढ़ते हुए परिणाम से कर्मों की इतनी जबरदस्त निर्जरा की, कि स्वयं भगवान महावीर ने अपने मुख से उनकी प्रशंसा की थी।

जिस प्रकार खेत में इकट्ठे हुए कचरे को जला दिया जाता है और खेत साफ कर दिया जाता है; उसी प्रकार कर्मरूपी कचरे के ढेर को जलाने के लिए तप अग्नि समान है।

चिलातिपुत्र ने भयंकर पापार्जन किए थे, किन्तु तप के प्रभाव से उसने अपनी आत्मशुद्धि कर ली। □

याति घनाऽपि घनाघनपटली,
खरपवनेन विरामम् ।
भजति तथा तपसा दुरितावली,
क्षणभङ्गुर - परिणामम् ।।विभा० ११८।।

अर्थ—जिस प्रकार तीव्र पवन के द्वारा भयंकर मेघ का आडम्बर भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तप से पापों की श्रेणी भी क्षणभंगुर बन जाती है।। ११८ ।।

विवेचन

तप से पापनाश

आषाढ़ मास की ऋतु हो, सम्पूर्ण आकाशमण्डल बादलों से घिरा हुआ हो और चारों ओर बिजलियाँ चमक रही हों, सम्पूर्ण वातावरण वर्षा के लिए सानुकूल हो। सभी लोग इसी आशा में हों कि अभी वर्षा होगी.....अभी वर्षा होगी।

किन्तु अचानक ही एक जबरदस्त तूफान चलता है और बड़ी ही तेजी से बादल बिखरने लगते हैं, थोड़ी ही देर में तो सम्पूर्ण आकाशमण्डल स्वच्छ हो जाता है, आकाश में धूप निकल जाती है और समस्त वातावरण परिवर्तित हो जाता है, वर्षा की आशा धूल में मिल जाती है।

इस रूपक के द्वारा पूज्य उपाध्यायजी म. हमें एक नई बात सिखाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार तीव्र पवन ने विराट् बादलों को क्षण भर में बिखेर दिया, उसी प्रकार से तीव्र तप भी पाप रूपी बादलों की श्रेणियों को क्षण भर में बिखेर देता है, उन्हें नष्टप्राय कर देता है। □

वाञ्छितमाकर्षति दूरादपि,
रिपुमपि व्रजति वयस्यम्।
तप इदमाश्रय निर्मलभावा-
दागम - परम - रहस्यम् ॥विभा० ११९॥

अर्थ—तप दूर रहे मनोरथों को खींचकर निकट ले आता है। तप से शत्रु भी मित्र में बदल जाता है। हे आत्मन्! निर्मल भाव से इस तप का आश्रय करो। यही आगम का परम रहस्य है॥ ११९॥

विवेचन

निर्मल भाव से तप करो

तप का रहस्य अति गूढ़ है। इसके गूढ़ रहस्य को समझना, सामान्य बुद्धि का काम नहीं है।

जिस प्रकार चुम्बक में दूर रहे लोहे को खींचकर अपने निकट लाने की ताकत है, उसी प्रकार तप में भी दूर रहे पुण्य को खींचकर नजदीक लाने की ताकत है और उस पुण्य के फलस्वरूप सभी वांछित-मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

शुभ संकल्प को पूर्ण कराने में तप रामबाण औषध समान है।

तप में दुनिया के प्रत्येक सुख और यावत् मोक्ष का सुख देने का सामर्थ्य रहा हुआ है। परन्तु तप के फलस्वरूप संसार के सुखों की इच्छा करना भयंकर हानिकर है। सम्भूतिमुनि ने अपने तप के फलस्वरूप चक्रवर्ती पद की याचना की। इस याचना-निदान से उसे चक्रवर्ती का पद मिल तो गया किन्तु अन्त में उसे भयंकर ७वीं नरक भूमि में जाना पड़ा। जो गेहूँ बोयेगा, उसके साथ घास-चारा तो उगने ही वाला है। गेहूँ के लिए ही गेहूँ बोये जाते हैं, घास-चारे के लिए नहीं।

इसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति के उद्देश्य से ही सम्यग् तप धर्म का आचरण करने का है। मोक्ष के उद्देश्य से की गई साधना के फलस्वरूप सांसारिक भोग-सुख भी मिलेंगे ही। सांसारिक सुख तो तप का आनुषंगिक फल है, तप का मुख्य फल तो मोक्ष है।

तप में समस्त वांछाओं को पूर्ण करने का सामर्थ्य रहा हुआ है किन्तु हमें वांछाएँ ऐसी ही रखनी चाहिये जो हमें मोक्षमार्ग में आगे बढ़ाने वाली हो।

धर्मी के मनोरथ कैसे होते हैं? यह आप जानते हैं?

धर्मी के मनोरथ यही होते हैं कि 'हे प्रभो ! वह दिन कब आएगा कि जब इस संसार के बन्धनों का त्याग कर मैं अणगार बनूंगा। मेरा हृदय मैत्री-प्रमोद की भावनाओं से भावित हो जाएगा। मैं उत्तम कोटि के संयम का पालन करूंगा। मेरे हृदय में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि की प्रतिष्ठा हो जाएगी। मैं कठिन अभिग्रहों को धारण करूंगा। भयंकर उपसर्गों से भी मैं चलित नहीं बनूंगा।' इत्यादि आत्महितकर शुभ मनोरथ अवश्य ही तप के प्रभाव से पूर्ण होते हैं।

तप के प्रभाव से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। तप की घोर साधना के फलस्वरूप महावीर परमात्मा ने अपने हृदय में मैत्री की ऐसी प्रतिष्ठा की थी कि जिसके फलस्वरूप उनके समवसरण में आजन्म वैरी पशु-पक्षी भी पास-पास में आकर प्रभु की देशना का श्रवण करते थे। सिंह व हिरण पास-पास में बैठते हुए भी हिरण के हृदय में किसी प्रकार का भय नहीं होता था।

सिंहगुफावासी आदि अनेक महामुनियों ने तप धर्म की साधना के फलस्वरूप ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं कि उनके सान्निध्य में आने वाले प्राणी वैरभाव का सर्वथा त्याग कर देते थे।

इस तप का आचरण निर्मल भाव से करना चाहिये। यही आगम का परम रहस्य है। निदानरहित छोटे से तप में मोक्ष प्रदान करने का सामर्थ्य रहा हुआ है।

जहाँ माया, मिथ्यात्व और निदान शल्य रहा हुआ है, वह तप जिनशासन में मान्य नहीं है। वह तप तो भव-वृद्धि का ही कारण बनता है। □

अनशनमूनोदरतां वृत्ति-
ह्रासं रस - परिहारम् ,
भज सांलीन्यं कायक्लेशं ,
तप इति बाह्यमुदारम् ।।विभा० १२०।।

अर्थ—अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, संलीनता और कायक्लेश, ये बाह्य तप हैं ।। १२० ।।

विवेचन

बाह्य तप की साधना

तीर्थंकर परमात्मा ने तप के मुख्य दो भेद (बाह्य तप और आभ्यन्तर तप) बतलाए हैं। यहाँ बाह्य तपों का वर्णन करते हैं :

1. **बाह्य तप**—इस तप में बाह्य पदार्थों का त्याग किया जाता है। इस तप में देह को कष्ट मिलता है, जो अन्य व्यक्तियों के द्वारा प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। आहार आदि बाह्य पदार्थों का त्याग होने से, अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष होने से तथा जैनेतर व्यक्तियों द्वारा भी आचरित होने से इसे बाह्य तप कहते हैं। इसके छह भेद हैं—

(१) **अनशन**—जिस तप में चारों प्रकार के आहार का सर्वथा अथवा आंशिक त्याग किया जाता है, उसे अनशन तप कहते हैं।

(अ) **अशन**—जिस पदार्थ के खाने से क्षुधा की तृप्ति हो, उसे अशन कहते हैं। जैसे–रोटी, शाक, मिष्ठान्न आदि।

(आ) पान अर्थात् पानी, पेय पदार्थ ।

(इ) खादिम–जिन वस्तुओं के भक्षण से क्षुधा की तृप्ति न हो किन्तु आंशिक तृप्ति होती हो । उदा०—सेके हुए धान्य, चना, खजूर, नारियल, अंगूर आदि ।

(ई) स्वादिम—जिन वस्तुओं को खाने से क्षुधातृप्ति न हो, किन्तु कुछ स्वाद मिलता हो, जैसे—सूंठ, जीरा आदि ।

अनशन में चारों प्रकार के आहार का त्याग होता है। काल की अपेक्षा इसके दो भेद हैं—

(१) **इत्वर अनशन**—जिसमें मर्यादित समय के लिए चारों आहारों का त्याग किया जाता है। जैसे—उपवास, आयम्बिल, एकासना इत्यादि ।

(२) **यावज्जीविक अनशन**—जिसमें चारों प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग किया जाता है, उसे यावज्जीविक अनशन कहते हैं ।

(2) **ऊणोदरी**—भूख से कुछ (कवल) कम भोजन करना, ऊणोदरी तप कहलाता है । सामान्यतः पुरुष का भोजन बत्तीस कवल का तथा स्त्री का भोजन अट्ठाईस कवल का होता है। इस प्रकार क्षुधा से कम भोजन करने को ऊणोदरी कहते हैं ।

(3) **वृत्तिसंक्षेप**—भोजन के पदार्थों की संख्या कम करना वृत्तिसंक्षेप तप कहलाता है । जैसे—भोजन के आठ पदार्थ हों, उसमें से पाँच पदार्थ ही खाना ।

(4) **रसत्याग**—रस अर्थात् विगई । इसके छह प्रकार

हैं—(१) दूध (२) दही (३) घी (४) तैल (५) गुड़ तथा (६) पक्वान्न। इन छह में से एक दो या तीन का त्याग करना।

(5) **कायक्लेश**—जिस तप में इच्छापूर्वक काया को कष्ट दिया जाता है, उसे कायक्लेश कहते हैं। जैसे—केशलुंचन, पादविहार इत्यादि।

(6) **संलीनता**—जिस तप में अंग-उपांग का संकोच किया जाता है, उसे संलीनता तप कहते हैं। जैसे—एक आसन पर बैठकर जाप आदि करना, श्मशान भूमि में कायोत्सर्ग करना इत्यादि।

इस प्रकार बाह्य तप के छह भेद हैं। इन तपों का आचरण करने से आत्मा, मन व देह की शुद्धि होती है। □

प्रायश्चित्तं वैयावृत्यम् स्वाध्यायं विनयं च।
कायोत्सर्गं शुद्धध्यानम्, आभ्यन्तरमिदमं च ।।विभा० १२१।।

अर्थ—प्रायश्चित्त, वैयावच्च, स्वाध्याय, विनय, कायोत्सर्ग और शुभध्यान, आभ्यंतर तप हैं।। १२१ ।।

विवेचन

अभ्यन्तर तप की साधना

अभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—

1. **प्रायश्चित्त**—मूलगुण अथवा उत्तरगुण में, महाव्रत अथवा अणुव्रत के पालन में कोई जानबूझ कर अथवा अनजाने में

भूल हो जाय तो उसे गुरु के समक्ष प्रगट कर उस पाप की शुद्धि करने को प्रायश्चित्त कहते हैं।

प्रायश्चित्त अर्थात् जिससे बहुलतया चित्त की शुद्धि होती हैं। इस प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं—

१. **आलोचना**—भूल से हुए पापों को गुरु के समक्ष प्रकट करना, आलोचना कहलाता है।

२. **प्रतिक्रमण**—भूल से हुए पापों को पुनः नहीं करने के उद्देश्य से 'मिच्छामि दुक्कडं' देना प्रतिक्रमण कहलाता है।

३. **मिश्र**—गुरु के समक्ष पाप को प्रगट करना और उसके लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' देना मिश्र प्रायश्चित्त कहलाता है।

४. **विवेक**—अशुद्ध अन्न-पानी का त्याग करना विवेक प्रायश्चित्त कहलाता है।

५. **कायोत्सर्ग**—काया के व्यापार का त्याग कर ध्यान करना कायोत्सर्ग कहलाता है।

६. **तप**—भूल व पाप के अनुसार गुरु-प्रदत्त दण्ड (उपवासादि करना) तप प्रायश्चित्त कहलाता है।

७. **छेद**—महाव्रतों का घात होने से दीक्षा-पर्याय का छेद करना छेद प्रायश्चित्त है।

८. **मूल**—महा अपराध होने पर मूल से पुनः दीक्षा देना, मूल प्रायश्चित्त है।

९. **अनवस्थाप्य**—जब तक अपराध का प्रायश्चित्त न करे तब तक महाव्रत प्रदान नहीं करना ।

१०. **पारांचित**—साध्वी के शील भंग आदि महापाप करने पर उसके दण्ड के लिए बारह वर्ष तक गच्छ बाहर रहकर महाशासन प्रभावना करने के बाद पुनः दीक्षा प्रदान करना पारांचित प्रायश्चित्त है ।

2. **विनय**—विनय अर्थात् गुणगान, व्यक्ति का बहुमान-आदर आदि करना । इसके सात प्रकार हैं—

(१) **ज्ञान विनय**—ज्ञान तथा ज्ञानी की बाह्य से सेवा करना, अन्तर से प्रीति व बहुमान रखना । इसके ५ भेद हैं—(१) भक्ति (२) बहुमान (३) भावना (४) विधिग्रहण और (५) अभ्यास ।

(२) **दर्शन विनय**—इसके मुख्य दो भेद हैं—(१) शुश्रूषा विनय और (२) अनाशातना ।

(१) **शुश्रूषा विनय**—देव-गुरु का सत्कार, सम्मान, अभ्युत्थान, आसन परिग्रहण, आसनदान, कृतिकर्म, अंजलिग्रहण, सन्मुखागमन, पश्चाद् गमन तथा पर्युपासना आदि करना ।

(२) **अनाशातना विनय**—तीर्थंकर, धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, सांभोगिक समनोस, साधर्मिक, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान इत्यादि की आशातना नहीं करना तथा उनकी भक्ति और बहुमान करना ।

(३) **चारित्र विनय**—चारित्र की श्रद्धा करना, उसकी स्पर्शना करना, उसके प्रति आदर रखना, पालन करना तथा चारित्र की प्ररूपणा करना इत्यादि।

(४-५-६) **योग विनय**—मन, वचन और काया को आचार्य आदि की भक्ति में प्रवृत्त करना।

(७) **उपचार विनय**—गुरु आदि के पास रहना, उनकी इच्छा का अनुसरण करना। गुरु के लिए आहार लाना, उन्हें आहार प्रदान करना, उनकी औषधि आदि से परिचर्या करना, अवसरोचित आचरण करना तथा गुरु के कार्य में तत्पर रहना, इत्यादि।

3. **वैयावच्च**—वैयावच्च अर्थात् सेवा शुश्रूषादि। १. आचार्य २. उपाध्याय ३. तपस्वी ४. स्थविर ५. ग्लान ६. नूतन दीक्षित ७. साधर्मिक ८. कुल ९. गण और १०. संघ की सेवा-भक्ति करना।

4. **स्वाध्याय**—इसके ५ भेद हैं—

(१) **वाचना**—किसी साधु आदि को पढ़ाना या स्वयं पढ़ना।

(२) **पृच्छना**—अध्ययन में जो शंकास्पद स्थल हों, उनका गुरु से निराकरण करना।

(३) **परावर्तना**—याद किए पाठ का पुनरावर्तन करना।

(४) **अनुप्रेक्षा**—धारण किए अर्थ का चिन्तन करना।

(५) **धर्मकथा**—धर्म का उपदेश देना।

5. **ध्यान**—ध्यान अर्थात् मन को एकाग्र करना। ध्यान के चार प्रकार हैं। इनमें दो शुभ हैं और दो अशुभ हैं।

1. **दो अशुभ ध्यान**—

(अ) **रौद्रध्यान**—अत्यन्त द्वेष से इस ध्यान की उत्पत्ति होती है और चित्त रौद्र बन जाता है। इसके चार भेद हैं—

(१) **हिंसानुबन्धी**—प्राणियों की हिंसा का क्रूरतम विचार करना। हिंसा के अध्यवसाय में लीन रहना।

(२) **मृषानुबन्धी**—झूठ बोलना तथा दूसरे को ठगने का निरन्तर विचार करना।

(३) **स्तेयानुबन्धी**—चोरी के विचारों का ही निरन्तर ध्यान करना।

(४) **संरक्षणानुबन्धी**—धन आदि परिग्रह की रक्षा के लिए निरन्तर चिन्तन करना।

(आ) **आर्तध्यान**—पीड़ाजन्य ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है। इसके चार भेद हैं—

(अ) **इष्ट वियोग**—प्रिय स्त्री, पुत्र आदि के वियोग से शोक-ग्लानि आदि करना।

(आ) **अनिष्ट संयोग**—प्रतिकूल व अनिष्ट वस्तुओं का सम्पर्क होने पर मन में शोक आक्रन्द आदि करना।

(इ) **रोग चिन्ता**—शरीर में रोग आदि होने पर उसके निवारण की सतत चिन्ता करना।

(ई) **निदान**—धर्म के फलस्वरूप संसार के सुख आदि पाने का संकल्प करना।

उपर्युक्त आर्त्त और रौद्रध्यान अशुभ हैं। इनके ध्यान से आत्मा की दुर्गति होती है।

2. **शुभध्यान**—इसके दो भेद हैं—(१) धर्मध्यान और (२) शुक्लध्यान।

(इ) **धर्मध्यान**—इसके चार प्रकार हैं—

(१) **आज्ञाविचय**—परमात्मा की आज्ञा तथा उसके माहात्म्य का चिन्तन करना।

(२) **अपायविचय**—राग-द्वेष से होने वाले अनिष्टों का चिन्तन करना।

(३) **विपाकविचय**—कर्म के शुभ-अशुभ फल का चिन्तन करना।

(४) **संस्थानविचय**—विश्व के स्वरूप का चिन्तन करना।

(ई) **शुक्लध्यान**—इसके भी चार भेद हैं—

(१) **पृथक्त्ववितर्क सविचार**—श्रुतज्ञान के आलम्बन से जड़ तथा चेतन की विभिन्न पर्यायों का चिन्तन करना।

(२) **एकत्ववितर्क निर्विचार**—श्रुतज्ञान के आलम्बन द्वारा आत्मादि द्रव्य के एक ही पर्याय का चिन्तन करना, इस ध्यान की पूर्णाहुति के साथ ही आत्मा घातिकर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करता है।

(३) **सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती**—मन, वचन तथा काया की सर्व प्रवृत्तियों का निरोध करना।

(४) **समुच्छिन्नक्रियाअनिवृत्ति**—आत्मप्रदेशों के सर्वथा निष्कम्प होने पर यह ध्यान होता है, इस ध्यान का काल मात्र ५ ह्रस्वाक्षर (अ, इ, उ, ऋ और लृ) के उच्चारण जितना है।

6. **कायोत्सर्ग**—कायोत्सर्ग अर्थात् काया के व्यापार का त्याग करना। अनादिकाल से स्वकाया पर रही मूर्च्छा के त्याग का अभ्यास कायोत्सर्ग के द्वारा किया जाता है। कायोत्सर्ग में 'नमस्कार-महामंत्र' आदि का ध्यान भी किया जाता है। □

शमयति तापं गमयति पापं,
रमयति मानस - हंसम्।
हरति विमोहं दूरारोहं,
तप इति विगताशंसम् ।।विभा० १२२।।

अर्थ—आशंसा रहित तप ताप को शान्त करता है, पाप को दूर करता है, मन रूपी हंस को खुश करता है और दुष्कर मोह को हर लेता है ।। १२२ ।।

विवेचन

तप की महिमा

तप की महिमा अकथनीय है। निराशंस भाव से जो तप किया जाता है, उससे तन के ताप और मन के सन्ताप दूर हो

जाते हैं। तप में इच्छापूर्वक आहार आदि लालसाओं का त्याग होता है, अतः स्वतः मानसिक शान्ति का अनुभव होता है। जहाँ लोभ और लालसा है, वहाँ अशांति रहती है। जहाँ त्याग और सन्तोष हैं, वहाँ शान्ति रहती है। जिनाज्ञापूर्वक जो तप किया जाता है, उससे आत्मा उपशान्त ही बनती है। जिनाज्ञा की उपेक्षापूर्वक किये गए तप में क्रोध आदि देखने को मिलता है, परन्तु जहाँ जिनाज्ञापूर्वक तप है, वहाँ तो महासागर सी शान्ति का ही अनुभव होता है।

तप से पाप का भी विलय होता है। भयंकर से भयंकर पापी भी तप के द्वारा अपने पापों का नाश कर आत्मशुद्धि कर लेता है। शास्त्रों में ऐसे अनेक दृष्टांत उपलब्ध हैं।

तप मानस-हंस को परम आनन्द देने वाला है।

देह के आहार के लिए अनेक जीवों की हिंसा करनी पड़ती है। तप के द्वारा आहार का त्याग हो जाने से छःकाय के जीवों को अभयदान दिया जाता है। जीवों को अभयदान देने से स्वतः ही आत्मा में परम शान्ति और आनन्द की अनुभूति होती है। □

संयम - कमला - कार्मणमुज्ज्वल-
शिव - सुख - सत्यंकारम्।
चिन्तित - चिन्तामणिमाराधय,
तप इह वारंवारम् ॥विभा० १२३॥

अर्थ—तप संयम रूपी लक्ष्मी का वशीकरण है। निर्मल

मोक्ष का वचन देता है। इच्छाओं को पूर्ण करने में चिन्तामणि है, ऐसे तप का बारम्बार आराधन करो ।। १२३ ।।

विवेचन

तप चिन्तामणि से बढ़कर है

पूज्य उपाध्यायजी म. तप के माहात्म्य को बतलाते हुए कहते हैं कि संयम रूपी लक्ष्मी को वश में करने के लिए तप एक वशीकरण मंत्र के समान है। जिस प्रकार वशीकरण मंत्र या विद्या के द्वारा किसी को अपने अधीन किया जा सकता है, उसी प्रकार यदि आप संयम रूपी लक्ष्मी चाहते हैं, तो आपको तप का आचरण करना चाहिये। सांसारिक लक्ष्मी तो क्षणिक, नाशवन्त और आपत्तियों का घर है, जबकि यह संयम-लक्ष्मी तो समस्त संपत्तियों की बीज है।

इसके साथ ही तप मोक्षसुख की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। तप हमें मोक्ष-सुख प्रदान करने का वचन देता है।

तप चिन्तामणि रत्न से बढ़कर है। चिन्तामणि रत्न तो मांगने पर मनोवांछित फल देता है, जबकि तप तो ऐसा चिंतामणि रत्न है, जो बिना मांगे ही सभी मनोरथों को पूर्ण कर देता है। ऐसे महान् तप का बारम्बार सेवन करना चाहिये। □

कर्मगदौषधमिदमिदमस्य च,
जिनपतिमतमनुपानम् ।
विनय समाचर सौख्यनिधानं,
शान्त - सुधारस - पानम् ।।विभा० १२४।।

अर्थ—यह तप कर्मरूप व्याधि की औषध है और जिनेश्वर का मत उसका अनुपान है। हे विनय! सुख के निधान स्वरूप शान्त सुधारस का पान करो ।। १२४ ।।

विवेचन

कर्मरोग की औषध तप है

आत्मा को अनादिकाल से कर्म का रोग लगा हुआ है। उस रोग को दूर करने की एकमात्र औषधि तप ही है। इस औषधि का जिसने सेवन किया, वह अल्प भवों में ही कर्मरोग से मुक्त बन गया और जिसने इस औषधि की उपेक्षा की, वह कर्म के रोग में सड़ता रहा है।

आयुर्वेदिक औषधि के साथ अनुपान लेने की आवश्यकता रहती है। जिनेश्वर का मत, तप रूप औषधि का अनुपान है। औषध का सेवन तभी सफल बनता है, जब अनुपान सानुकूल है। प्रतिकूल अनुपान से रोग-शमन के बजाय रोग का उपद्रव तीव्र हो जाता है।

औषधि-अनुपान के मिश्रण से रोग-नाश शीघ्र होता है, इसी प्रकार जिनेश्वर मत की आज्ञानुसार तप का आचरण करने से आत्मा को लगा हुआ कर्म का रोग शीघ्र नाश पाता है।

हे आत्मन्! समस्त सुखों के निधान स्वरूप शान्त सुधारस का तू अमृत पान कर। इस अमृतपान में तुझे परम आनन्द और शान्ति का अनुभव होगा। □

ग्रंथ एवं ग्रंथकार का परिचय

महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजय जी द्वारा विरचित "शान्त सुधारस" ग्रंथ एक सुमधुर काव्यकृति है। इस काव्य ग्रंथ में अनित्य आदि बारह और मैत्री आदि चार भावनाओं का गेयात्मक रूप में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

ग्रंथकार महर्षि प्रकांड विद्वान् और प्रतिभासम्पन्न थे। इस ग्रंथ रचना के साथ उन्होंने कल्पसूत्र–सुबोधिका टीका, लोकप्रकाश, हैम लघु प्रक्रिया, नयकर्णिका, जिननामसहस्र स्तोत्र जैसी संस्कृत कृतियों के साथ पुण्यप्रकाश स्तवन, श्रीपालराजा का रास इत्यादि अनेक गुर्जर साहित्य की भी रचना की है। प्रस्तुत काव्यकृति में भाषा के लालित्य के साथ-साथ भावों की ऊर्मियाँ उछलती हुई नजर आती हैं।

आइये ! रसाधिराज शांतरस के इस महासागर में डुबकी लगाकर अपनी आत्मा के कर्ममल का प्रक्षालन करें और आत्मा की निर्मलता को प्राप्त करें।

— मुनि रत्नसेन विजय

जीवन में नैतिक जागरण और सन्मार्ग प्राप्ति के लिए **परम पूज्य मुनिप्रवर श्री रत्नसेन विजय जी म.सा.** का सरल, सरस व सुबोध हिन्दी साहित्य अवश्य पढ़ें :

१. वात्सल्य के महासागर
२. सामायिक सूत्र विवेचना
३. चैत्यवंदन सूत्र विवेचना
४. आलोचना सूत्र विवेचना
५. वंदित्तु सूत्र विवेचना
६. आनंदघन चौबीसी–विवेचन
७. कर्मन् की गत न्यारी
८. मानवता तब महक उठेगी
९. मानवता के दीप जलाएँ
१०. चेतन ! मोह नींद अब त्यागो
११. जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है
१२. मृत्यु की मंगल यात्रा
१३. युवानो ! जागो
१४. शान्त-सुधारस हिन्दी विवेचन (भाग-१)
१५. शान्त-सुधारस हिन्दी विवेचन (भाग-२)
१६. The Light of Humanity (In Press)
१७. रिमझिम-रिमझिम अमृत बरसे (प्रेस में)

सम्पर्क सूत्र

1. Shantilal D. Jain
c/o Indian Drawing Equipment Industries,
Shed No.2, Sidco Industrial Estate,
Ambattur -Madras- 600 098

2. कांतिलाल मुणत,
106, रामगढ़, आयुर्वेदिक हॉस्पीटल के पास,
रतलाम (M.P.) 457 001